

सम्पादकीय

सच ही कहा गया है कि जैसे किसी व्यक्ति की मुखाकृति उसकी मनःस्थिति की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही किसी भी केन्द्र या संस्था की पत्रिका में उस संस्था का समग्र रूप युगपत् उद्भासित हो उठता है।

(स्वाभाविक ही है क्योंकि) ईश्वर ने अपनी अनेक अद्भुत रचनाओं में एक अति संवेदनशील प्राणी 'मनुष्य' की भी रचना की है। मनुष्य के व्यक्तित्व एवं उसके विकास पर अपने आस-पास की घटनाओं का व्यापक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि यह संसार अनेक रंगों एवं विविधताओं से भरा हुआ है, जिसमें प्रत्येक स्थान की अपनी-अपनी संस्कृति, भाषा व विचार हैं, जो उस स्थान विशेष की विशेषताओं को परिभाषित करते हैं। तभी स्वामी विवेकानन्द ने एक नव-विवाहित अमरीकन दम्पति को बताया था कि 'आपके देश में दर्जी किसी भी व्यक्ति को सभ्य और सुसंस्कृत बनाता है, लेकिन जिस देश से मैं आया हूँ, वहाँ उदात्त चरित्र ही किसी भी व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाता है।' अतः प्रत्येक स्थान देश, जाति व धर्म का अपना-अपना विशेष महत्त्व है।

इसी आधार पर मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र द्वारा प्रसारित पत्रिका 'मूल्य विमर्श' के माध्यम से हमारे समाज की विशेषताओं को हमारे सहयोगी बन्धुओं ने अपने-अपने विचारों से पिरोया है। मेरी कामना है कि पत्रिका हमारे समस्त पाठकों को ऐसी सत्प्रेरणा प्रदान करे जिसके सहारे वे मानव मात्र की सेवा कर व अपने मूल्यों की रक्षा कर अपने जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकें। यथार्थतः ये मानव-मूल्य ही हैं जो मनुष्य को संसार में सभी जीवों की अपेक्षा सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं।

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि भारतीय संस्कृति एवं आर्थिक विकास के आधार ये श्रेष्ठतम मूल्य ही रहे हैं जो न सिर्फ 'मानव' अपितु जीव मात्र एवं जगत के कल्याण, उसके लौकिक तथा पारलौकिक सम्बन्धों की विशद रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था ही किसी व्यक्ति को सामर्थ्य और साहस देते हैं, जिससे वह जीवन की विषम परिस्थितियों में भी अपना आत्मबल नहीं खोता। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में यदि मूल्यों का आधार न हो तो व्यक्तित्व एकांगी बन जाता है। मूल्य व्यक्ति की वाणी व व्यवहार को गम्भीरता प्रदान करते हैं।

बहुत दूर की न भी सोचे तो क्या कभी हमने अपनी दैनिक जीवनचर्या पर ध्यान दिया है? वे कितने मूल्य आधारित व दूसरों के लिए अनुप्रेरित रहे हैं? ऐसा प्रश्न इसलिए उठता है

क्योंकि आज समाज में जहाँ भी देखते हैं लोग एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में असत्य और स्वार्थ की पराकाष्ठा पार कर रहे हैं, ऐसी प्रवृत्ति किसी समाज-सचेतन व्यक्ति के मन में हताशा जगाती है क्योंकि वह ऐसे मूल्यक्षरण को देखते हुए भी इसे रोकने के लिए कुछ कर पाने में अपने को असहाय पाता है।

‘मूल्य-विमर्श’ पत्रिका को केन्द्र के माध्यम से प्रकाशित करने का आशय ही यही रहा है कि मानवीय मूल्यों की आवश्यकता की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया जाये, जो सम्प्रति चाहे-अनचाहे रूप से व्यक्ति से बिछुड़ती जा रही हैं।

कहा जाता है, बूँद-बूँद से घड़ा भरता है, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति से राष्ट्र बनता है और जिस राष्ट्र के व्यक्ति जितने ही सुसंस्कृत होंगे, वह राष्ट्र उतना ही विकसित होगा। क्योंकि जिस प्रकार उन्नत किस्म की बीज मिट्टी में डालने से ही उन्नत किस्म के पौधे का विकास होता है उसी प्रकार बाल्यावस्था से ही बच्चों में अच्छे संस्कार डालने से वे एक सुयोग्य नागरिक व राष्ट्र की अमूल्य धरोहर बनते हैं, और अपने राष्ट्र को उन्नत व विकसित करने की क्षमता अर्जन करते हैं।

अतः किसी भी राष्ट्र की प्रगति के मूल में उस राष्ट्र द्वारा अपनाये गये ‘मूल्य’ ही हैं जो अच्छे व बुरे का भेद कर उस राष्ट्र को सर्वोच्च शिखर पर ले जा सकते हैं। इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र द्वारा मानवीय मूल्यों को बढ़ाने की दिशा में सतत् प्रयास किया जा रहा है। ‘मूल्य-विमर्श’ पत्रिका भी उसी प्रयास का एक माध्यम है।

— उषा त्रिपाठी

प्रत्येक मनुष्य को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जो वह माता से न कह सके। ऐसा नियम मैंने किया था। इस नियम से मैं कई पापों से बचा, मुझे शक्ति मिली और मेरा जीवन उत्साह और दिव्य ज्योति से उज्ज्वल होता गया।

—महामना मदन मोहन मालवीय

पुरुषार्थ : एक पुनर्व्याख्या

डॉ० आनन्द मिश्र

जीवन एवं जगत् के प्रति मोटे तौर पर दो तरह की दृष्टियाँ हो सकती हैं— एक उसकी स्वीकृति की ओर दूसरी उसके निषेध की। एक भोग की और दूसरी परित्याग की, एक प्रवृत्ति की — दूसरी निवृत्ति की, एक कर्म की और दूसरी संन्यास की। परम्परा से भारतीय जीवन दृष्टि को बहुधा निवृत्तिपरक और संन्यासवादी कहा जाता रहा है तथा पश्चिमी जीवन शैली को प्रवृत्तिपरक और भोगवादी। मोटे तौर पर ऐसा सही होने के बावजूद इधर के कुछ वर्षों से या कहिए कि पिछली शताब्दी से भारतीय जीवनदृष्टि में महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं। यह बदलाव इतना आमूलकारी है कि बहुधा यह कहा जाने लगा है कि भारतीय अब धर्म और मोक्ष के स्थान पर अर्थ और काम को परम पुरुषार्थ मानने लगे हैं। व्यापक रूप से आधुनिकीकरण वैश्वीकरण, उपभोक्तावादी या जिन भी कारणों से भारतीय अब धर्म और अध्यात्म के स्थान पर जागतिक प्रवृत्ति की ओर आधिक उन्मुख दिखने लगे हैं। युवाओं में अधिक से अधिक भौतिक समृद्धि को अर्जित करने की और उनके यथेच्छ उपभोग की उत्कट अभिलाषा देखी जा सकती है। सबको आगे बढ़ने की और सबसे आगे बढ़ने की जल्दी है। आगे बढ़ने की इस होड़ में कोई पीछे नहीं रहना चाहता। आर्थिक समृद्धि जीवन का सर्वोच्च मूल्य हो गया है। हमेशा से सभ्यता और संस्कृति पर पैनी नजर रखने वाले सुधीजन, सन्त, महात्मा या दूसरे आगाह करते रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं कि प्रगति की यह राह, विकास की यह राह हमें पतन की ओर ले जा रही है। हम नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं।

ऊपर के विवेचन से सामान्य सहमति पायी

जाने के बावजूद मुझे इसे स्वीकार करने में संकोच है। यह स्वीकार करने का मैं कोई आधार नहीं पाता हूँ कि हम नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन के रास्ते पर जा रहे हैं। बल्कि यह मानना चाहिये कि देश प्रगति के रास्ते पर बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है। भौतिक समृद्धि जिसमें दुर्भाग्य से पिछली कुछ शताब्दियों से हम अत्यन्त पिछड़ गये थे, उस ओर तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। इस देश के नागरिक स्वयं को और अपने देश को सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के अघोषित लक्ष्य की ओर बहुत तेजी से बढ़ रहे हैं। ऐसे में मूल्यों के ह्रास, नैतिकता के पतन, सदियों की सनातन परम्परा के क्षय को आवश्यकता के अधिक रूपायित करने की, अतिरंजित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि ऐसा कर हम देश को किसी न किसी रूप में प्रगति-प्रतिगामी ही बनाते हैं। मौजूदा विकास को बहुधा भौतिकता की आँधी के रूप में चित्रित किया जाता है और यह कहा जाता है कि हम भौतिक रूप से भले ही अधिक विकसित होते जा रहे हैं, पर नैतिक और आध्यात्मिक रूप से खोखले होते जा रहे हैं। पर यह सहज ही पूछा जा सकता है कि भौतिक सुसम्पन्नता और समृद्धि तथा आध्यात्मिकता में किसी राष्ट्र के लिए अधिक वरणीय आदर्श क्या हो सकता है? मेरा यह मानना है कि उपयुक्त सामाजिक आदर्श भौतिक समृद्धि ही हो सकती है। यदि पुरुषार्थ की चर्चा हम व्यक्ति नहीं बल्कि समूह, समाज या राष्ट्र के सन्दर्भ में करें तो हम कह सकते हैं कि 'अर्थ' ही वह प्रधान पुरुषार्थ होगा जिसको केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय गतिविधियों का संयोजन होना चाहिये। मोक्ष किसी विशेष व्यक्ति के लिये वरणीय पुरुषार्थ हो सकता है, कदाचित

किसी छोटे समुदाय विशेष का पुरुषार्थ हो सकता है पर मोक्ष को हम सम्पूर्ण राष्ट्र के लोगों के लिए, सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए परम पुरुषार्थ नहीं बना सकते हैं। जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है तो इसे व्यक्ति-सामान्य का चरम पुरुषार्थ नहीं बनाया जा सकता है। ऐसा बनाने का दुष्परिणाम हम अतीत में देख चुके हैं। मोक्ष का आदर्श जीवन के निषेध का आदर्श है। इस मोक्षवादी और निवृत्तिपरक जीवनदृष्टि से कैसे इस देश ने अतीत में कई शताब्दियों तक दासता और दारिद्र्य के दुर्दिन देखे हैं, इसे यहाँ रूपायित करने की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता, यह तो स्पष्ट ही है।

शताब्दियों की बाह्य एवं आन्तरिक दासता से जब यहाँ के लोगों ने मुक्त होकर समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आदर्श पर टिकी लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अधिगमित किया है तथा एक लोकतान्त्रिक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य के अंग हुये हैं, ऐसे दौर में उन्हें अपनी मूल्य-सरणी को नए सिरे से संरचित करने की आवश्यकता है। मोक्ष, अध्यात्म और ऐसे दूसरे लोकोत्तर मूल्यों का हमने खूब अनुशीलन किया और उसके सभ्यतागत परिणामों को भी हमने निकट से महसूस किया। जीवन एवं जगत् के नकार पर आधारित निवृत्तिमूलक जीवनदर्शन के स्थान पर सकारात्मक जीवनदृष्टि को विकसित करने की तत्काल आवश्यकता है। हमें एक ऐसी मूल्य व्यवस्था विकसित करनी होगी जो जीवन की स्वीकृति पर आधारित हो, जो जीवन को सम्पूर्णता में स्वीकार करे। सच पूछिये तो हमें अपनी पुरुषार्थ प्रणाली को नए ढंग से समायोजित करने की आवश्यकता है। हमने धर्म और मोक्ष की बहुत बात की। अब आवश्यकता है अर्थ को केन्द्र बनाने की। अर्थ केन्द्रित एक नयी मूल्य व्यवस्था को संरचित करना होगा। इस दरिद्र देश को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने से बढ़कर हमारा कोई राष्ट्रीय आदर्श

नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यदि इस देश के लोगों में अधिक से अधिक भौतिक सुख समृद्धि को हासिल करने की होड़ है, सबको जल्दी से जल्दी आगे बढ़ने की पड़ी है, सारे मूल्य गौण होकर अर्थानुगामी हो गये हैं, भौतिक सुख समृद्धि ही सब कुछ हो गयी है तो यह कहीं से भी अशुभ का संकेत नहीं है। वस्तुतः जिसे लोग अन्धी दौड़ कह रहे हैं वह तो हमारा सुचिन्तित राष्ट्रीय आदर्श है। अतः जब लोग निर्धारित लक्ष्य की ओर तेजी से अग्रसर हैं तो किसी तरह की शिकायत की कोई जरूरत नहीं है। मूल्यों के पतन, नैतिकता में पतन, परम्परागत मूल्यों में क्षरण, सांस्कृतिक पतन आदि की कोई दुहाई देने की आवश्यकता नहीं है। इस देश के लोगों ने अभी तक जीवन एवं जगत् की निस्सारता की बात की, उसके त्याग एवं मोक्ष की बात की। अब वे उसको नए ढंग से देख रहे हैं। उसको उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार कर रहे हैं। वस्तुतः यह जगत् तो भोग जगत् है, कर्म और भोग का स्थल है। जीवन या जगत् त्याग के लिए नहीं अपितु भोग के लिये है।

अस्तु, अर्थ और काम को जीवन का परम पुरुषार्थ मानने में कोई दोष नहीं है और तद् केन्द्रित मूल्य-सरणी के पुनर्संरचना की यदि बात की जाती है तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। वस्तुतः मैं तो समझता हूँ कि परम्परा में प्रस्तुत 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की अवधारणा की यही वैश्विक उपादेयता है कि इसकी पुनर्व्याख्या देश, काल और युग के अनुरूप होना चाहिए।^① वस्तुतः हर देश, काल और युग के अपने जीवन मूल्य होते हैं और उनका नाभिक कोई विशेष परममूल्य होता है जिसके आनुषंगिक के रूप में इन जीवन मूल्यों को लिया जा सकता है। अब यदि इस ढंग की व्याख्या की जाए तो कहा जा सकता है कि हर युग, हर देश काल, हर समाज या संस्कृति के अपने चरम मूल्य होते हैं। कोई समाज, कोई संस्कृति काम को, कोई

अर्थ को तो कोई धर्म या कोई मोक्ष को केन्द्रीय मूल्य के रूप में रख सकता है और इस केन्द्रीय मूल्य के इर्द गिर्द अन्य आनुषंगिक मूल्यों का अनुशीलन कर सकता है। यदि मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास पर नजर डालें तो हम ऐसा ही पाते हैं। अस्तु, यदि भारतीयों के लिये 'अर्थ' यदि परम पुरुषार्थ हो गया है तो इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं। यहाँ यह भी कहना उचित होगा कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जो पुरुषार्थ भारतीयों के लिये परम पुरुषार्थ के रूप में अनुषितव्य है वह अन्य राष्ट्रों, संस्कृतियों या समाजों के लिए भी ऐसा है। जो समाज या संस्कृति आर्थिक समृद्धि के चरम पर हो, हो सकता है वह अपने आदर्शों के पुनरावलोकन के क्रम में 'काम' या 'धर्म' को चरम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करे अथवा 'काम' को चरम पुरुषार्थ के रूप में सामने रखकर तदाश्रित अन्य आनुषंगिक मूल्यों के आधार पर बड़ा समाज, काल के किसी विशेष क्रम में यह महसूस करे कि उसके मूल्य अप्रासंगिक और निरुपादेय हो गये हैं और वह 'धर्म' या 'मोक्ष' की ओर आकृष्ट हो। वस्तुतः पश्चिम के साथ तो ऐसा हो भी रहा है। दूसरी ओर भारतीयों के साथ स्थिति भिन्न है। शताब्दियों तक पराजय, विपन्नता और दासता की बेड़ी में जकड़े हुए राष्ट्र के लिये स्वयं को मजबूत बनाने से बढ़कर कोई और राष्ट्रीय लक्ष्य नहीं हो सकता है। और फिर, विपन्न व्यक्ति के मुख से धर्म और मोक्ष की बात अच्छी भी नहीं लगती है। यही कारण है कि पिछली शताब्दी में तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द आदि ने भी भारतीय मानस के लिये निवृत्तिपरक मूल्यों के स्थान पर प्रवृत्ति पर आधारित जीवन व्यवस्था की अनुशंसा की।

दूसरी ओर मैं यह भी कहना चाहूंगा कि वस्तुतः कोई समाज, संस्कृति या राष्ट्र किस पुरुषार्थ को अपने चरम मूल्य के रूप में स्वीकार करता है और उस पर आधारित मूल्य व्यवस्था को अंगीकार

करता है, इससे उस समाज, संस्कृति या राष्ट्रादि की श्रेष्ठता नहीं आपादित होती है। धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष किसी एक को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार कर विकसित हो रहे या विकसित हुए समाज की इसलिये भर्त्सना नहीं कर सकते कि वह चरम मूल्य को काम या अर्थ मानता है, न कि धर्म या मोक्ष। दूसरे शब्दों में कहें तो पुरुषार्थों की उच्चावचता का वस्तुतः कोई दार्शनिक आधार नहीं है। यहाँ बहुतों को आपत्ति हो सकती है कि चारों पुरुषार्थ समान रूप से श्रेष्ठ नहीं हैं, इनमें उच्चावचता है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, जबकि अन्य साधन पुरुषार्थ हैं। अथवा कि धर्म परम पुरुषार्थ है और अर्थ और काम साधन पुरुषार्थ हैं। यानी कि अर्थ और काम धर्म और मोक्ष की दृष्टि से कम महत्त्वशाली हैं, गौण हैं, कम श्रेयस्कर हैं, कम मूल्यवान हैं। अब यदि ऐसा है तो जाहिर है अर्थ और काम को केन्द्रीय मूल्य बनाकर विकसित हुए समाज संस्कृति को धर्म और मोक्ष को केन्द्रित कर विकसित हुए समाज से निकृष्ट या कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानना चाहिये। वस्तुतः जब विभिन्न समाज, समूह, संस्कृति या सभ्यता के सन्दर्भ में मूल्यों की बात की जाती है तो यह मानना होगा कि इन चारों पुरुषार्थों में सबका समान महत्त्व है। कोई एक पुरुषार्थ अन्य से अधिक श्रेष्ठ नहीं है। 'काम' को केन्द्र में रखते हुए रागात्मक पक्ष पर अधिक जोर देने वाले समाज या संस्कृति को जिसने साहित्य, संगीत, कला, जैसे सौन्दर्यपरक मूल्यों के अनुशीलन में चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया हो, भला किस आधार पर अन्य मूल्यों को केन्द्र में रखकर विकसित हुए समाज से कम श्रेष्ठ माना जाएगा। 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' की अवधारणा की उर्ध्वरेखीय व्याख्या की अपेक्षा क्षैतिज व्याख्या वर्तमान सन्दर्भ में अधिक उपादेय हो सकती है। पुरुषार्थों में तारतम्य और उच्चावचता के बदले में मैं यह कहना चाहूंगा कि इनको 'वैकल्पिक

जीवन आदर्शों' के रूप में लेना चाहिये। कोई समाज 'काम' को केन्द्र में रखकर, कोई अर्थ को केन्द्र में रखकर कोई 'धर्म' या 'मोक्ष' को केन्द्र में रखकर अपना विकास कर सकता है।

पुरुषार्थ सम्बन्धी भारतीय चिन्तन के बाद के दौर के विषय में यह कहा जा सकता है कि इस पर विचार व्यक्ति की दृष्टि से अधिक किया गया और समाज की दृष्टि से कम। व्यक्तिगत जीवन की ही तरह पुरुषार्थ पर सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में भी विचार किया जा सकता है,^② और इस दृष्टि से विचार करने पर हम सहज हो देख सकते हैं कि समाज के विभिन्न लोगों के लिये यह धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष के वैकल्पिक जीवन आदर्शों की बात करता है। अपनी-अपनी दृष्टि से लोग अपने-अपने मूल्यों का चयन कर लें। लोग जिस किसी पुरुषार्थ को अपनायें, सब बराबर के मूल्य के हैं। वस्तुतः सन्तुलन की यह माँग भी है कि सब समान रूप से श्रेष्ठ हैं, कोई कम या अधिक नहीं। मोक्ष से किसी भी दृष्टि से धर्म, अर्थ या काम कम महत्त्वपूर्ण या श्रेष्ठ नहीं है। मोक्षशास्त्र उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र या कामशास्त्र।

वस्तुतः पुरुषार्थों की पुरुषार्थता ही यह है कि वे मनुष्यों के लिये वरणीय हैं, मूल्य हैं, अनुसेव्य हैं, श्रेयस हैं। अब अर्थ और काम को जब पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है तो जाहिर है यह समझने की बात होगी कि वे किस अर्थ में वरणीय माने गये हैं। यह तो स्वाभाविक है कि हर मनुष्य अर्थ और काम की अभिलाषा रखता है। पुरुषार्थ का यह तात्पर्य नहीं है कि पुरुष इनको पाना चाहता है। यदि पुरुषार्थ की इस तरह से यथार्थवादी व्याख्या की जाए तो इसमें महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। वस्तुतः जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि भारतीय चिन्तकों ने अर्थ और काम को जो सबकी अभिलाषा के स्वाभाविक विषय हैं उन्हें आदर्श मूल्यों

की सरणी में रखा।^③

वस्तुतः काम को जब पुरुषार्थ के रूप में रखा जाता है तथा उसके मूल्य होने की बात की जाती है तो इससे तात्पर्य यह होता है कि इसको निरन्तर शोधित, परिमार्जित, सुसंस्कृत बनाते हुए इसका अनुशीलन हो। इस व्यापक रूप में 'काम' न केवल समस्त सौन्दर्यपरक मूल्यों को समाये हुए है बल्कि साहित्य, संगीत, कला की साधना और उनके उन्नतम रूपों के अन्वेषण को समाहित किये हुए है। इसी तरह अर्थ को जब आदर्श मूल्य के रूप में रखा जाता है तो इससे तात्पर्य होता है कि उसके वैसे रूप के अनुशीलन का निरन्तर प्रयास हो जिसमें अर्थ के अर्जन, साधन, मात्रा, भोग की प्रक्रिया आदि पर अंकुश रखा गया है।^④ अर्थोपार्जन के या उसके भोग या वितरण के निकृष्ट, मध्यम या उत्तम रूप हो सकते हैं। अब मनुष्य के लिए जाहिर है निरन्तर ऐसे उत्तमोत्तम अर्थ-प्रणाली का अनुशीलन ही उचित आदर्श होगा। व्यापक रूप से देखा जाए तो यह मनुष्य के सामने ऐसे उपयुक्त सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रणाली के अनुशीलन का आदर्श रखता है जिससे मनुष्य मात्र के जीवन निर्वाह की उपयुक्त व्यवस्था हो सके। वस्तुतः आदर्श 'काम' गीतोक्त सात्त्विक सुख का अनुशीलन है तथा 'अर्थ' त्यक्तेन भुंजीथा (त्यागपूर्वक भोग) का उपनिषद् मार्ग है।^⑤

अब यदि अर्थ और काम को जीवन के मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो वे किसी भी रूप में अन्य दूसरे पुरुषार्थों से न्यून नहीं हो सकते हैं। क्योंकि जो पुरुषार्थ रूप में वरणीय 'अर्थ' है वह धर्मपूर्वक अर्थ है, इसी तरह 'काम' भी धर्मपूर्वक काम है। मात्राभेद का प्रश्न अशुभ, अनौचित्य या बुराई के सन्दर्भ में तो कदाचित् उठाया जा सकता है, पर जहाँ तक शुभ, औचित्य या अच्छाई की बात है तो उनमें मात्रा भेद नहीं होता है। बुराई कम या अधिक हो सकती है, पर अच्छाई तो

अच्छाई होती है उसमें भेद नहीं होता है। अब यदि ऐसा है तो चारों पुरुषार्थ समान मूल्य के हुए, फलतः धर्म और मोक्ष को केन्द्र में रखकर 'अर्थ' या 'काम' पर आधारित जीवन दृष्टि, समाजव्यवस्था आदि की जो आलोचना की जाती है, वह कहाँ तक उचित है? साहित्य, संगीत, कला या अन्य सौन्दर्यपरक मूल्यों के अनुशीलन मूल्यों के अनुशीलन करने वाले समाज को, जिसमें उस समाज ने उन्नति के शिखर को प्राप्त किया हो, हम किस आधार पर एक 'धर्म केन्द्रित' समाज से न्यून बता सकते हैं? इसी तरह एक कवि या कलाकार को किस तरह एक धार्मिक व्यक्ति से आप कम महत्त्व का बतायेंगे।

अस्तु, यदि भारतीय 'अर्थ' और 'काम' को चरम मूल्य मानने लगे हैं या उनको केन्द्र में रखकर अपनी मूल्य-सरणी में महत्त्वपूर्ण बदलाव ला रहे हैं, तो यह कहीं से भी चिन्ता का विषय नहीं है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ :

(1) The Myth of the Purusārthas में दयाकृष्ण परम्परागत पुरुषार्थ-विचार को आज की परिस्थिति में अनुपयुक्त पाते हैं। उनका मन्तव्य है कि जीवन के बहुविध मूल्यों को यह प्रणाली नकारती है। इन बहुविध मूल्यों की व्याख्या में न तो फ्रायड के काम-केन्द्रित (Kama-centric) सिद्धान्त से, न मार्क्स के अर्थ केन्द्रित (Artha-centric) सिद्धान्त से कोई मदद मिलती है और न ही समाजशास्त्रियों या मानवविज्ञानियों के धर्म-केन्द्रित (Dharma-centric) सिद्धान्त से उनकी व्याख्या हो पाती है। वास्तव में मनुष्य-जीवन की विभिन्न आकांक्षाओं, आदर्शों, मूल्यों की व्याख्या के लिये नये पुरुषार्थ-चिन्तन की आवश्यकता है।

दृष्टव्य, दयाकृष्ण का लेख The Myth of the Purusārthas, A Counterperspective of Indian Philosophy, OUP, Delhi, 1991।

मूल्य-विमर्श के रूप में प्रस्तुत परम्परागत पुरुषार्थ-

चिन्तन के सम्यक् विवेचन के लिए देखें, Indian Conception of Values, M. Hiriyanna, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1975। आधुनिक संदर्भ में पुरुषार्थ-चिन्तन की व्याख्या के लिये देखें डॉ. भगवानदास की पुस्तक 'पुरुषार्थ', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966।

(2) वस्तुतः अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि अपने आरम्भिक रूप में पुरुषार्थ-प्रणाली सामाजिक जीवन की व्यवस्था के रूप में ही प्रस्तुत हुयी थी तथा वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवधारणा में निहित था।

(3) पुरुषार्थ की यथार्थवादी एवं आदर्शवादी व्यवस्था के लिये देखिये प्रो० गीतारानी अग्रवाल का लेख 'पुरुषार्थ की यथार्थवादी एवं आदर्शवादी व्याख्या' तथा प्रो० रघुनाथ गिरि का लेख 'मानवतावादः प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में', दार्शनिकी, वर्ष-1, अंक-1, जनवरी-2004।

(4) "अर्थात् अर्थार्जन के उचित उपाय का चयन, संविभाग को ध्यान में रखते हुए अर्थ का संग्रह एवं रक्षण और त्यागपूर्वक भोग के संदर्भ में ही अर्थ पुरुषार्थ हो सकता है।..... अतः मानव के सन्दर्भ में काम सात्त्विक सुख, पर सुख सुखित्व और पर दुःखनिवारण की इच्छा एवं प्रयास तथा साहित्य, संगीत, कला आदि के संवर्धन एवं विकास हेतु प्रयत्न ही है जो केवल मानव में संभव हैं।"

रघुनाथ गिरि, मानवतावाद : प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में, दार्शनिकी, वर्ष-1, अंक-1, जनवरी-2000, पृ० 29।

(5) तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।

गीता - 18/37

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

गीता - 7/11

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

ईशावास्योपनिषद् - 1। ●

विषाद-योग : दुःख को अनुकूल एवं उपयोगी बनाने की विधा

कमलाकर मिश्र

भूमिका :

भगवद् गीता के प्रथम अध्याय के अंत में उस अध्याय का नाम दिया गया है “अर्जुन विषाद-योग” (“.....अर्जुन विषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः”)। इसका शाब्दिक अर्थ तो यही निकलता है कि अर्जुन को जो विषाद हुआ वह भी एक योग है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठेगा कि क्या विषाद (दुःख) भी योग हो सकता है? हर्ष तो शायद योग हो भी जाय किन्तु इसका विपरीत जो विषाद है वह कैसे योग बनेगा? फिर गीता में अध्याय का नाम विषाद-योग क्यों दिया गया है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि गीता के अन्य सभी अध्यायों में योग है और इसी कारण उसे योग विशेष के नाम से अभिहित किया गया है, और इसी क्रम में पहले अध्याय को भी उपचार (Courtesy) में एक योग का नाम दे दिया गया है; अर्जुन को विषाद होना एक घटना है और इस घटना को योग कह देना औपचारिकता मात्र है।

उपर्युक्त उत्तर भी एक पक्ष है और वह सही हो सकता है, किन्तु गीता में आगे जो योग प्रस्थापित किया गया है उसे देखते हुए यह बात भी निकलती है कि दुःख को भी योग साधना के भीतर अंगीकार कर उसे अनुकूल एवं उपयोगी बनाया जा सकता है। जैसे सभी लोग स्वाभाविक रूप से कर्म करते हैं, किन्तु गीता ने ऐसी विधा दी कि जिससे वही कर्म अब योग (कर्मयोग) बन जाता है, उसी प्रकार जीवन में दुःख का आना भी स्वाभाविक है किन्तु इस दुःख को भी योग बनाकर अपने लिए हितकर बना लेने की विधा गीता ने दी है। अतः इस बात पर विचार किया जाय कि दुःख को हम किस रूप में ग्रहण करें कि वह योग बन जाय और

फलतः हानिकारक होने के स्थान पर वह हमारे लिए उन्नतिकारक एवं लाभदायक बन जाय। इसकी विधा मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक है। प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दुःख के प्रति अपनी मानसिक धारणा (Attitude) बदलकर दुःख को हम अनुकूल बना सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं। उसे ही स्पष्ट करना इस लघु आलेख का विषय है। (प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना समुचित होगा कि जो बात इस आलेख में कही जा रही है वह केवल सैद्धान्तिक विवेचना के आधार पर ही नहीं है वरन् व्यावहारिक अनुभव के आधार पर भी है, इसे अपने जीवन में प्रयोग करके देखा और सत्यापित (Verify) किया गया है।)

स्वाभाविक दुःख एवं हमारे द्वारा बनाया दुःख

दुःख दो प्रकार के हो सकते हैं – एक तो वे दुःख जो प्रकृति के द्वारा दिए गए हैं अर्थात् जो साक्षात् रूप से हमारे किए नहीं होते हैं वरन् अपने आप आते हैं। (वैसे दूरदृष्टि से देखे तो अपने सभी दुःखों के कारण अंततोगत्वा हम ही हैं; किन्तु प्रत्यक्ष रूप से हम उनके लिए जिम्मेदार नहीं दीखते)। उदाहरण के लिए, रोग होना, बुढ़ापा आना, किसी कारणवश शरीर में पीड़ा होना, निर्धन होना, कोई विपत्ति आ जाना, किसी प्रिय व्यक्ति का असामयिक निधन हो जाना आदि-आदि। इन दुःखों के विषय में कहा जा सकता है कि ये साक्षात् हमारे द्वारा नहीं दिये गए हैं वरन् हमारे न चाहने पर भी आए हैं (भले ही परोक्ष रूप से या कर्मनियम के अनुसार हम ही इसके कारण हैं।)

दूसरे प्रकार के दुःख वे हैं जिनके साक्षात् रूप से कारण हम ही हैं अर्थात् उन्हें हम ही ने बनाया है। उदाहरण के लिए, ईर्ष्या में जलना, लोभ

और मोह के कारण बेचैन हो उठना, क्रोध में पागल हो जाना, अपराध के कारण दण्ड पाना, दूसरों का अहित चाहना और उनका हित होते देख स्वयं दुःखी होना, आदि—आदि। इन परिस्थितियों के लिए भले ही बाहरी व्यक्ति या बाहरी परिस्थिति कारण या उत्तेजक (stimulus) हो, और उत्तेजक (stimulus) भले ही हमारे हाथ में नहीं है, किन्तु 'स्टिमुलस' के प्रति हम क्या प्रतिक्रिया (response) दें यह बिल्कुल हमारे हाथ में है। हम अपनी प्रतिक्रिया सकारात्मक (positive) रूप में दें या नकारात्मक (negative) रूप में दें इसके लिए हम स्वतंत्र हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति हमारे साथ कोई अपमानजनक व्यवहार करता है तो यह उत्तेजक (stimulus) हुआ, उत्तेजक पर तो हमारा वश नहीं है किन्तु अपने को अपमानित महसूस करना या न करना हमारे हाथ में है। इसी प्रसंग में एक बड़ी सूझबूझ वाली कहावत है — “कोई भी मुझे मेरी अनुमति के बिना अपमानित नहीं कर सकता” (“Nobody can insult me without my permission”) अपमानित महसूस करना ही अनुमति देने का अर्थ है। दूसरों को बढ़ते देख हमारी छाती फटती है तो यह दुःख तो हमने स्वयं उपजाया है। ईर्ष्या पूर्णतः हमारी कृति है। क्रोध की स्थिति में अपने ऊपर संयम रखना बहुत हद तक हमारे हाथ में है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सब लोगों की बुराई देखते हैं और सबकी बुराई के विषय में सोच-सोचकर कुढ़ते रहते हैं; ऐसे लोग सदा दुःखी रहते हैं। बुराई का केवल संज्ञान मात्र होने से दुःख नहीं होता, जब उस संज्ञान में घृणा या हिकारत का भाव जोड़ दिया जाता है तब दुःख होता है। न्यायाधीश जब अपराधी को दण्ड देता है तो उसे अपराधी की बुराई का संज्ञान रहता है किन्तु न्यायाधीश को इससे दुःख की अनुभूति नहीं होती क्योंकि उसके मन में अपराधी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता, अपराधी के

प्रति घृणा या नफरत नहीं होती। जब हम नफरत या घृणा के साथ दूसरों की बुराई सोच-सोचकर कष्ट पाते हैं तो यह कष्ट हमने स्वयं पैदा किया है। दूसरों में सचमुच में बुराई हो तब भी हम स्वयं क्यों दुःखी हों?

एक और दुःख हमारे हाथ में है। रोग आदि प्राकृतिक दुःख आने पर तो उसे सहना और भोगना ही होता है। किन्तु यदि हम उस दुःख को मन से स्वीकार नहीं करते और सोचते रहते हैं कि दुःख क्यों आ गया तो इस सोच के कारण अलग से (Additional) दुःख होने लगता है और जब हम दुःख को मन से स्वीकार कर लेते हैं और सहने के लिए तैयार हो जाते हैं तो प्राकृतिक पीड़ा तो होती है किन्तु जो अलग से मानसिक पीड़ा हो रही है वह नहीं होती। बहुत से लोग ऐसे हैं जो वास्तविक (प्राकृतिक) दुःख से कम दुःखी होते हैं और इस मानसिक सोच से ज्यादा दुःखी होते हैं कि यह दुःख क्यों आया, इसे नहीं आना चाहिए था। आधा दुःख तो उसे मन में स्वीकार कर लेने से ही कम हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकार के दुःख जो स्वयं अपने कारण होते हैं उनसे मुक्ति पाने के लिए तो स्पष्ट है कि हम अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति का प्रयोग कर उससे मुक्ति पा सकते हैं। हम चाहेंगे तो अवश्य सफलता मिलेगी, किन्तु यदि चाहेंगे ही नहीं तो बात अलग है। बहुत से लोग यह कहते सुने जाते हैं कि क्या करें यह हमारी आदत हो गयी है या हमारा स्वभाव हो गया है। किन्तु असलियत है कि आदत भी हम ही ने बनाया है और हम ही उसे बिगाड़ भी सकते हैं। स्वभाव के विषय में यह जो मान्यता है कि स्वभाव बदलता नहीं या बदल नहीं सकता यह सही नहीं है। स्वभाव इसलिए नहीं बदलता क्योंकि हम उसे बदलना नहीं चाहते हैं और बदलना इसलिए नहीं चाहते हैं क्योंकि हम उसे सही समझते हैं।

यदि हम अपने स्वभाव की गलती समझ लें और फिर उसे बदलना चाहें तो उसे बिल्कुल बदल सकते हैं।

क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि का दुःखदायी मनोभाव आता तो हमारे अनचाहे ही है, किन्तु हम अपनी स्वतंत्र चाहना के द्वारा प्रयत्न करके उनसे मुक्त हो सकते हैं। कुछ ऐसी मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अभ्यास विधियाँ हैं जिन्हें करके हम उन मनोभावों को स्वस्थ एवं सुन्दर मनोभाव में बदल सकते हैं। उन सभी अभ्यास विधियों में सबसे अधिक कारगर एवं सरल विधा 'मैत्रीभावना' का अभ्यास है। मैत्रीभावना अपने प्रेम भाव को विकसित करने और मन में ही सबके प्रति उसे प्रसारित करने का अभ्यास है। इस अभ्यास में दूसरों को (सभी को) मन में ही ध्यान कर यह भावना की जाती है कि सभी अपने हैं, सभी भले हों एवं सभी सुखी हों। दुष्ट और दुश्मन के प्रति यह भावना की जाती है कि वह सुधर जाये, भला बने और कल्याण मार्ग पर चले ताकि सुखी हो सके। मैत्रीभावना पर काफी प्रयोग किया गया है और चामत्कारिक परिणाम देखा गया है। (मैत्रीभावना की विस्तृत व्याख्या अन्यत्र एक पुस्तिका में दी गई है; देखिए "मैत्रीभावना : मानसिक स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन का चामत्कारिक योग", लेखक कमलाकर मिश्र, प्रकाशक 'काशी योग एवं मूल्य-शिक्षा संस्था', वाराणसी।)

दुःख की स्वीकृति एवं उत्सर्जन (Acceptance and Katharsis) :

ऊपर उस प्रकार के दुःख की चर्चा हुई जिसे हम स्वयं पैदा करते हैं और फलतः हम अपने प्रयत्न से हटा सकते हैं, और हटा देना चाहिए। अब उस दुःख या पीड़ा की चर्चा करें जिसे हमने साक्षात् रूप से पैदा नहीं किया है जो हमारे अनचाहे अपने आप आता है (वही इस लेख का मुख्य विषय है)।

शारीरिक पीड़ा तो शारीरिक उपाय (दवा

इत्यादि) से जाती है किन्तु मानसिक पीड़ा मानसिक उपाय से ही जाती है। दुःख का मानसिक उपाय भी दो प्रकार का है। एक उपाय दुःख का रूपान्तरण (Transformation) या उदात्तीकरण (sublimation) है। भक्तिभावना, मैत्रीभावना, सकारात्मक सोच, विवेक-विचार आदि के द्वारा मानसिक दुःख परिवर्तित होकर सकारात्मक भावना का रूप ले लेता है। दूसरा उपाय दुःख को स्वीकार कर उसके प्रति मानसिक अवरोध हटाकर दुःख को प्रकाशित होने दिया जाय और उसे सह लिया जाय या भोग लिया जाय; इससे दुःख मन से निकल जाता है और मन की सफाई हो जाती है। इसे मनोवैज्ञानिक भाषा में विसर्जन या 'उत्सर्जन' (Katharsis) कहते हैं।

उत्सर्जन (कैथार्सिस Katharsis) दुःख के साफ हो जाने का सरल उपाय है, जिसे प्रकृति ने हमें स्वाभाविक रूप से प्रदान किया है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम इसमें प्रकृति के साथ सहयोग करें। यह प्रकृति प्रदत्त विधा बच्चों में स्वाभाविक रूप से काम करती है। बच्चों को जब पीड़ा पहुँचती है तो वे तुरन्त रोने लगते हैं; रो लेने से उनकी पीड़ा मन से निकल जाती है और वे जल्दी ही पुनः अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता की स्थिति में आ जाते हैं और सामान्य रूप से खेलने-कूदने लगते हैं। इसका कारण यह है कि बच्चों के मन में अवरोध (inhibition) नहीं होता है, फलतः उनकी पीड़ा के बाहर आने में रुकावट नहीं आती है और रुदन के रूप में पीड़ा बाहर आ जाती है या यह कहिए कि रुदन के माध्यम से पीड़ा बह जाती है। किन्तु बड़े लोगों में अहं होता है एवं तमाम बौद्धिक अवरोध होते हैं। उन्हें भी रोना आता है लेकिन वे सोचते हैं कि लोग क्या कहेंगे, वे अपने रोने को रोक लेते हैं एवं भीतर ही भीतर घुटते रहते हैं, अतः आवश्यकता इस बात की है कि मन में दुःख (पीड़ा) होने पर प्रकृति ने जो उसके प्रकटीकरण की

स्वाभाविक विधा दी है उसे हम होने दें (रोके नहीं) —रो लें, कराह लें, छटपटा लें, सहन करते हुए भोग लें। इसके लिए अपना अहं और लाज—शर्म छोड़ देने की आवश्यकता होती है। कभी—कभी अत्यंत प्रिय व्यक्ति के निधन पर मन को इतना धक्का (shock) लगता है कि मन सुन्न जैसा हो जाता है, आदमी रोता—चिल्लाता नहीं वरन् गुमशुम बैठा रहता है। ऐसे समय उस व्यक्ति को रूलाने की आवश्यकता होती है जिससे उसकी पीड़ा निकल जाये और वह सामान्य हो जाय। इस प्रसंग में अंग्रेजी की एक कविता है जिसमें एक कहानी कही गई है। कहानी है कि एक प्रसिद्ध योद्धा (warrior) था। वह युद्ध में मारा गया। उसके मृत शरीर को लोग उसके घर ले आए (“Home they brought their warrior dead”)। उसे देखकर उसकी पत्नी को काठ मार गया। वह न रोती, न चिल्लाती, न कुछ कहती थी, वह मौन होकर बैठी रही जैसे संज्ञा शून्य हो गई हो। लोगों को चिंता हुई कि यदि यह रोती नहीं और इसी तरह संज्ञा शून्य मनःस्थिति में रहती है तो यह पागल हो जाएगी। लोगों ने उसे रूलाने का बहुत प्रयास किया लेकिन वह सफल नहीं हुए। वहाँ एक बुढ़िया भी थी, उसके मन में एक उपाय सूझा। उस अब विधवा हो गई स्त्री को एक छोटा बच्चा था। बुढ़िया ने उस बच्चे को लाकर उस स्त्री (माँ) की गोद में डाल दिया। अब अपने अनाथ हुए बच्चे को देखकर उस स्त्री की व्यथा फूट पड़ी और वह दहाड़ मारकर रोने लगी। तात्पर्य यह है कि रो लेने से मन की अवरुद्ध व्यथा निकल जाती है और मन धीरे—धीरे स्वस्थ हो जाता है; फिर समय धीरे—धीरे घाव को भर देता है।

दुःख से अवरुद्ध मानसिक शक्तियों का विमोचन :

दुःख और भय की अवस्था में प्रायः ऐसा होता है कि हमारी मानसिक शक्तियाँ (स्मरण

शक्ति, एकाग्रता की शक्ति, समझने की शक्ति आदि) अवरुद्ध हो जाती है, फलतः हमारा मस्तिष्क ठीक से काम नहीं करता और हम सफलता नहीं प्राप्त कर पाते। उदाहरण के लिए जब कोई विद्यार्थी परीक्षा के भय से ग्रसित होता है और वह भय की अवस्था में परीक्षा में बैठता है, तो वह याद किया हुआ विषय भी भूल जाता है और उसे समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ या साक्षात्कार (Interview) में क्या बोलूँ। वह परीक्षा या साक्षात्कार ठीक से नहीं दे पाता है क्योंकि भय के कारण उसकी मानसिक स्थिति काम नहीं करती। अतिशय दुःख की अवस्था में भी ऐसा ही होता है। बाहर से धैर्य धराने या उत्साहवर्धन करने से कोई लाभ नहीं होता।

उक्त स्थिति से निजात पाने का एक प्रमाणित एवं सत्यापित उपाय है। वह यह कि दुःख से भागा न जाय वरन् उसे स्वीकार किया जाय और सहा जाय एवं सहते हुए तैयारी की जाय। ऐसा करने पर दुःख की अनुभूति तो होती है किन्तु मानसिक शक्तियाँ अवरुद्ध नहीं होतीं, हम पीड़ा सहते रहते हैं और साथ ही मानसिक शक्तियाँ खुली होने के कारण ठीक से काम करते रहते हैं और सफलता भी प्राप्त करते हैं। हमारे कई विद्यार्थियों ने एवं हमने अपने विद्यार्थी जीवन में इसका प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी महसूस कर रहा था कि उसकी परीक्षा की तैयारी नहीं हुई है, वह परीक्षा नजदीक आने पर घबरा रहा था और परीक्षा छोड़ना चाह रहा था क्योंकि उसे भय था कि वह फेल हो जाएगा। उसे मानसिक परामर्श (mental counseling) दिया गया कि तुम फेल होने के लिए तैयार हो जाओ, मन में कल्पना कर यह निदर्शन (visualisation) करो कि तुम फेल हो गये हो और लोग तुम्हारी निन्दा कर रहे हैं, इससे होने वाली पीड़ा को तुम सह लो। उसने ऐसा ही किया। ऐसा करने से उसे पीड़ा की अनुभूति तो होती थी जिसे

वह सहता गया, किन्तु उसकी मानसिक शक्तियाँ ठीक से काम करती रहीं, जिसके कारण परीक्षा की तैयारी ठीक से कर सका और फलतः परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो गया। ऐसा कई लोगों का अनुभव है और हमारा स्वयं का भी अनुभव है। एम0ए0 प्रीवियस में मेरे नम्बर अच्छे आये थे किन्तु मुझे यह भय हो गया कि मैं एम0ए0 फाइनल में फेल हो जाऊँगा या बहुत कम नम्बर पाऊँगा। मैंने परीक्षा छोड़ने (drop) का मन बना लिया किन्तु हमारे गुरु प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल ने मुझे वही कहा जो मैं अपने विद्यार्थियों को कहता हूँ। उनका कहा मानकर मैं रोज रात को सोते समय यह कल्पना करता था कि मैं फेल हो गया हूँ और चारों तरफ मेरी निन्दा हो रही है, लोग व्यंग्य कर रहे हैं कि बड़ा तीस मार खाँ बनता था। इस कल्पना में मुझे बहुत पीड़ा होती थी किन्तु मैं उस पीड़ा को सहता था और सहते हुए सो जाता था। नतीजा यह हुआ कि मेरी मानसिक शक्तियाँ ठीक से काम करती रहीं। मुझे मानसिक पीड़ा तो अवश्य सहनी होती थी किन्तु परीक्षा की तैयारी में कोई बाधा नहीं होती थी क्योंकि मन ठीक से काम करता था। इसी से मैंने परीक्षा भी ठीक से दी और न केवल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास किया वरन् मेरा स्थान प्रथम रहा और इसके लिए मुझे अपने विश्वविद्यालय में पारितोषिक भी दिया गया।

हमारे गुरु (पं0 लालजी राम शुक्ल जी) हम लोगों को (विद्यार्थियों को) कबीरदास का यह दोहा अक्सर सुनाते रहते थे —

“सूरा नाम धराय के अब का डरपे वीर।

अडि रहना मैदान में सन्मुख सहना तीर”।।

अर्थात् “ऐ वीर! तुम शूरवीर नाम धरा कर अब क्या डर रहे हो, मैदान में अड़े रहकर सामने से आता तीर सहो”। मारने में वीरता नहीं, तीर सहने में वीरता है।

तात्पर्य यह कि जब हम दुःख को सहने के लिए तैयार हो जाते हैं और सहते हैं तो सफलता हमारा पैर चूमती है। अंग्रेजी में इसी समझदारी वाली एक कहावत है जिसका अर्थ है “प्रत्येक सफल व्यक्ति के साथ एक दर्दभरी कहानी होती है, और प्रत्येक दर्दभरी कहानी का सफल अन्त होता है” (“Every successful person has a painful story, every painful story has a successful ending”)। इसीलिए दर्द को खुशी से स्वीकार कर लेना चाहिए। “दर्दभरी कहानी” (अर्थात् दुःख) एक चुनौती है और जो इस चुनौती को स्वीकार कर लेता है वह वीर है। उसे पीड़ा तो अवश्य सहनी पड़ती है, किन्तु अन्ततः सफलता उसी को मिलती है। इसीलिए गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है — ये सब विपरीत परिस्थियाँ (दुःख) “आने और जाने वाली हैं; अनित्य हैं, इन्हें सह लो”। (“आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत”।)

दुःख को स्वीकार कर लेने और उसे सह लेने के साथ एक और सत्य जुड़ा हुआ है। वह यह कि जब हम दुःख का या समस्या का या समस्याजनित कष्ट का सामना करने को तैयार हो जाते हैं और “सन्मुख तीर सहते हुए” सामना करते हैं तो हमारी सोई हुई अव्यक्त शक्तियाँ कार्यशील हो जाती हैं, हमारी प्रतिभा जाग जाती है। फिर हम असंभव दिखने वाले काम को भी सफलतापूर्वक कर लेते हैं। इसीलिए कहा गया है कि प्रत्येक सफल व्यक्ति के साथ एक दर्दभरी कहानी होती है जो उसे मंजिल तक पहुँचने में सहायक होती है।

इसीलिए दर्द को अपना शत्रु नहीं मानना चाहिए, वह तो हमारा मित्र है जो हमारे भीतर निखार आने में हमारी सहायता करता है। इसीलिए गीता में दुःख को सह लेने और सुख के साथ दुःख को भी समान भाव से लेने की बात कही गयी है। “सुख और दुःख को, लाभ और हानि को, विजय

एवं पराजय को समभाव से ग्रहण करो" ("सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ")। "प्रिय वस्तु को प्राप्त कर प्रहर्षित मत होओ (अर्थात् फूल मत जाओ) और अप्रिय वस्तु को पाकर उद्विग्न मत होओ" ("न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्")। "दुःख में उद्विग्न मत होओ और सुख में निस्पृह रहो" ("दुःखेश्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः")। "जो व्यक्ति काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सह ले सकता है वह योगी है और सुखी आदमी है" ("शक्नोतीहैव यः सोढुं..... कामक्रोधोदभवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः")।

तपस्या की जो अवधारणा है उसका वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि जानबूझकर प्रयत्नपूर्वक अपने को कष्ट दिया जाय (हालांकि यही अर्थ प्रचलित हो गया है) वरन् उसका अर्थ है लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सशक्त प्रयत्न करना या श्रम करना और इस प्रक्रिया में जो कष्ट आता है उसे सहन करना। "कठोर तप" का वास्तविक अर्थ है कठोर श्रम। जब-जब घोर प्रयत्न और श्रम करेंगे तो कष्ट होना स्वाभाविक है। उसी कष्ट को सह लेना तपस्या है। धर्मग्रंथो (Scriptures) में जो तप शब्द का प्रयोग हुआ है वह इसी अर्थ में हुआ है। प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति में कठिनाई आती है और कष्ट झेलना पड़ता है। विद्यार्थी जब पढ़ाई करता है और परीक्षा की तैयारी करता है तो इसमें कष्ट भी होता है, इसीलिए संस्कृत का श्लोक है जिसका अर्थ है "सुख चाहने वाले को विद्या कैसे मिलेगी और विद्या चाहने वाले को सुख कैसे मिलेगा" ("सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्")। विद्या प्राप्त कर लेने के बाद तो भले ही सुख मिले, किन्तु पहले तो कष्ट तो उठाना पड़ता ही है। इसीलिए कहा जाता है कि तपस्या से विद्या का अर्जन होता है। यही बात धनअर्जन करने या किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने में है।

तात्पर्य यह कि जीविकोपार्जन में या जीवन के किसी भी कार्य में कष्ट (दुःख) आता है, तो उसे तपस्या मानकर प्रसन्नतापूर्वक झेल लेना चाहिए। इसी अर्थ में कहा गया है कि बिना तपस्या किए किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। जो वस्तु बिना तपस्या किए अर्थात् बिना कष्ट झेले आराम से मुफ्त में मिल जाती है, वह टिकाऊ नहीं होती अथवा सुख नहीं देती। संसार के सफल व्यक्ति जब सफलता की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं तब सब लोग जान जाते हैं, किन्तु उसके पहले सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें कितना कष्ट उठाना पड़ा है यह सब लोग नहीं जानते। अंग्रेजी में एक कविता है जिसका अर्थ है "महापुरुष लोग जिस ऊँचाई पर पहुँचे वह एक झटके में नहीं पहुँच गए; जब उनके अन्य साथी रात को सो रहे थे तब वे ऊँचा चढ़ने के लिए घोर श्रम कर रहे थे" (The heights that great men reached and kept; Were not of sudden flight But they while their companions slept; Were toiling upward in the night.)।

दुःख से चेतना की ऊँची स्थिति की प्राप्ति—

दुःख से जो सबसे बड़ा लाभ है, या सबसे बड़ा लाभ लिया जा सकता है, वह यह कि इससे हमारी चेतना का विकास होता है, चेतना की अव्यक्त सतहें खुलती हैं और चेतना की ऊँची स्थिति की प्राप्ति होती है। यह आत्मिक (आध्यात्मिक) लाभ है जो सभी लाभों का आधारभूत लाभ है। हम यह तो नहीं कह रहे हैं कि जिन लोगों को दुःख की अनुभूति नहीं हुई है, उनकी आत्मिक उन्नति नहीं होती, किन्तु यह तो निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि दुःख की अनुभूति आत्मिक लाभ में सहायक होती है। हाँ, कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो चेतना के बहुत निचले स्तर (पशु के स्तर पर) होते हैं जो दुःख पाते रहते हैं और उनमें कोई परिवर्तन

नहीं दीखता। किन्तु ऐसे लोगों में भी परिवर्तन होता है, भले ही धीरे-धीरे होता है और धीरे-धीरे होने के कारण देखने में नहीं आता; पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चेतना की सफाई होने (या यह कहिए कि चेतना का विकास होने) में एक से अधिक जन्म लग सकते हैं। हमारा जीवन पाठशाला है जिसमें आकर हम सीखते हैं। जन्म लेना इस पाठशाला में प्रवेश पाना है और मृत्यु हो जाना इस पाठशाला से निकल जाने का “ट्रांसफर सर्टिफिकेट” (Transfer Certificate) है। जन्म लेने और मरने के बीच में हम नाना प्रकार के अनुभव करते हुए एवं दुःखों को सहते हुए जीवन की इस पाठशाला में बहुत कुछ सीखते हैं, और हममें बहुत कुछ परिवर्तन होता है। दुःख हमारे लिए अनुशासक एवं उत्प्रेरक का काम करता है। मरने के समय तक हम वही नहीं रह जाते जो जन्म के समय होते हैं। काठ या पत्थर को मूर्ति बनाने के लिए उसे गढ़ा जाता है, उसे छेनी से काटा एवं रुखानी से छीला जाता है जिसे अंग्रेजी में “चिजेलिंग” (Chiselling) कहते हैं यदि काठ (या पत्थर) की “चिजेलिंग” न की जाय तो वह अनगढ़ ही रह जाएगा और सुन्दर मूर्ति का रूप नहीं धारण कर सकेगा। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व को सुन्दर रूप देने के लिए प्रकृति उसको गढ़ती है, उसकी “चिजेलिंग” करती है। स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में मनुष्य को बहुत पीड़ा होती है, किन्तु इसी प्रक्रिया से वह गढ़ा जाता है और ‘सुगढ़’ बनता है। यदि मनुष्य चिजेलिंग की पीड़ा को सहने के लिए तैयार नहीं होता तो वह सुन्दर मूर्ति नहीं बन सकता।

इसी सन्दर्भ में यह भी सत्य है कि यदि “चिजेलिंग” की पीड़ा को मनुष्य स्वीकार करता है और सह लेता है तो उसका “गढ़ा जाना” आसान हो जाता है। किन्तु यदि वह सहने को तैयार नहीं होता है तब भी कृपालु प्रकृति उसे छोड़ती नहीं,

मार-मार कर उसे गढ़ती है। सुगढ़ बनाने के लिए मारना (चोट पहुँचाना) प्रकृति की (या यह कहिए भगवान की) कृपा है। चोट तो पड़ेगी ही, चाहे उसे हम स्वीकार करें या न करें, यदि स्वीकार कर लेते हैं तो कम ही पीड़ा सहने में मामला निपट जाएगा। अन्यथा हमें अन्त में वही करना पड़ेगा जिसे हम अभी नहीं करना चाह रहे हैं। इसी सन्दर्भ में गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं (श्रीकृष्ण का अर्जुन को कहना वस्तुतः भगवान का अपने बन्दे को कहना है) —“यदि अहंकार का आश्रय लेकर तुम यह सोचो कि नहीं लड़ूंगा, तो यह तुम्हारा झूठा निश्चय है, प्रकृति तुम्हें जबरन लड़ाएगी। अपने स्वभावजनित कर्म से बद्ध हुए तुम अज्ञानवश जो स्वेच्छा से नहीं करना चाहते हो, उसे अवश होकर करना ही पड़ेगा।” :-

“यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत्॥
एक अमेरिकी मनःचिकित्सक (Psychotherapist) महिला ने अपने “पवित्र घाव” (“Sacred Wound”) शीर्षक लेख में मानसिक रोगियों की चिकित्सा के अपने अनुभव के आधार पर लिखा है कि मानसिक रोगी पीड़ा से गुजरते हैं; उन्हें यह मानसिक परामर्श (Mental Counseling) दिया जाता है कि इस पीड़ा (घाव, Wound) को प्रकृति की कृपा मानकर स्वीकार करो और सह लो तथा उसे सहते हुए प्रकृति के स्वास्थ्यदायी निर्देशों का पालन करो, प्रकृति के द्वारा दिया गया यह घाव (पीड़ा) पवित्र है क्योंकि यह तुम्हारे हित के लिए है, तुम्हारी चेतना को ऊँचा उठाने के लिए है। जब रोगी मानसिक चिकित्सक के परामर्श के अनुसार दुःख को स्वीकार कर लेता है तो उसमें चामत्कारिक परिवर्तन आता है; उसकी चेतना के नए दरवाजे खुलते हैं, चेतना

के ऊपरी मंजिल पर पहुँचने के लिए नयी सीढ़ी खुलती हैं। कई रोगियों ने अच्छा होने के बाद उस मनःचिकित्सक को यह अनुसंधान (फीडबैक, feedback) दिया कि वे बहुत प्रसन्न हैं एवं अपने को भाग्यशाली मानते हैं कि उन्हें मानसिक रोग की गहरी पीड़ा से गुजरना पड़ा, क्योंकि वैसा नहीं होता तो वे अपनी चेतना की इस सुखद एवं समुन्नत (elevated) स्थिति में न पहुँचते। उन्होंने यह भी बताया कि अब वे न केवल स्वयं बहुत सुखी हैं वरन् उनके व्यवहार से दूसरों लोग भी सुख मान रहे हैं।

तात्पर्य यह कि दुःख हमारा समुन्नायक है। इतना ही नहीं कि दुःख की स्थिति से गुजरने के बाद सुख आना ही है वरन् यह भी है कि जो सुख की स्थिति अब आएगी वह पहले की तुलना में बहुत अच्छी होगी। इस संदर्भ में सिनेमा का एक गीत है जिसके अंश हैं — “रात जितनी ही संगीन होगी, प्रातः उतनी ही रंगीन होगी; रात भर का है मेहमाँ अंधेरा, किसके रोके रुका है सवेरा”। दुःख जितना ही गहरा होगा, उसके बाद की सुखद स्थिति भी उतनी ही शक्ति होगी।

श्री अरविन्द ने कहा है कि चेतना के विकास की प्रक्रिया में पीड़ा सहनी पड़ती है, जो इस पीड़ा को नहीं सहना चाहता, वह विकसित चेतना के सुख को नहीं पा सकता। यह बताने के लिए उन्होंने एक दृष्टान्त का उपयोग किया है, दृष्टान्त है प्रसव की पीड़ा का। प्रसव की प्रक्रिया में बहुत पीड़ा होती है (“बाँझ कि जान प्रसव कर पीड़ा”)। प्रसव की पीड़ा सहने के बाद ही संतान प्राप्ति का सुख मिलता है। श्री अरविन्द ने इसी को लेकर कहा है कि जो स्त्री प्रसव की पीड़ा सहने को तैयार नहीं वह बच्चे का मुख नहीं देख सकती। हम जो दुःख सहते हैं वह हमारे भीतर उच्च चेतना के प्रकटित होने के पहले की ‘प्रसव-पीड़ा’ (delivery pain) के समान है।

दुःख से अहंकार का टूटना—

चेतना के विकास एवं चेतना की ऊँची स्थिति आने में बाधक जो तत्त्व है वह है अहंकार (ego)। एक अहं (ego) प्रकृति ने दिया है जो जागतिक व्यवहार में एक दूसरे से फर्क बताने और व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक है। परन्तु एक अहं हमने स्वयं बनाया है। इस अहं में हम अपने को ही अच्छा मानते हैं, अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं और उन्हें हिकारत की निगाह से देखते हैं, अपनी ही इच्छा के अनुसार दूसरों को चलाना चाहते हैं; प्रकृति प्रदत्त शक्तियों एवं वस्तुओं के लिए श्रेय (credit) अपने ही ऊपर लेते हैं एवं गुमान में फूले रहते हैं, आदि। इस अहंकार या अभिमान के कारण हम अपने अनजाने ही दूसरों का एवं साथ ही अपने आप का अनिष्ट करते रहते हैं। अपने अहं में हम सत्य को स्वीकार नहीं करते (या करना नहीं चाहते)। यदि कोई दूसरा हमें बताता है तो हम उससे लड़ पड़ते हैं और अपनी गलती मानने को कभी तैयार ही नहीं होते। अहंकार के साथ ही अन्य बुराइयाँ और अशुद्धियाँ आ जाती हैं; अहंकार ही प्राथमिक आत्मिक अशुद्धि है। अहंकार गलने पर हृदय शुद्ध हो जाता है। दुःख से अहंकार गलता है और अहंकार गलने पर ही हमारे में शुद्धता आती है; इसीलिए दुःख आत्मशुद्धि का कारण बनता है।

यह अहंकार ही जीवन में सफलता और सुख का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है, किन्तु इसे हम छोड़ते नहीं, इसका जाना बड़ा कठिन होता है। जब हमारे ऊपर दुःख पड़ता है या विपत्ति आती है तब जाकर हमारा अहंकार टूटता है, तब हम अपनी कमी या गलती स्वीकार करते हैं और सत्य की ओर या भगवान की ओर उन्मुख होते हैं। जब हम अपने से अपना अहंकार छोड़ने को राजी नहीं होते तो प्रकृति हमारे ऊपर दुःख भेजती है ताकि हमारा अहं टूटे और फलतः हमारी समुन्नति हो और हम

सुखी हो सकें। (अहंकारी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रहता, वह अपने अहंकार का लवादा ओढ़कर भले ही फूले फिरता हो किन्तु उसे सुख की अनुभूति नहीं होती)।

अहंकार टूटने के लिए दुःख भेजना यह प्रकृति की (या भगवान की) कृपा है, क्योंकि सामान्यतया विना दुःख पड़े अहंकार टूटता नहीं। देखा गया है कि बड़े-बड़े अहंकारी व्यक्ति जो किसी को कुछ नहीं समझते वे भी दुःख पड़ने पर टूट जाते हैं, और दुःख पड़ने पर ही टूटते हैं, अन्यथा नहीं। इसीलिए तो दुःख भेजना प्रकृति की कृपा है। दुःख में ही भगवान याद आते हैं अर्थात् सत्य याद आता है, और तब हम सत्य के रास्ते पर मुड़कर सुख के लक्ष्य पर पहुँचते हैं।

उपर्युक्त बात पर विचार करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि दुःख प्रकृति का (या भगवान का) प्रसाद है। बुद्धिमान लोग दुःख को इसी रूप में स्वीकार करते हैं, वे इस बात को समझते हैं कि दुःख भेजकर भगवान हमारी “चिजेलिंग” कर रहा है, हमारा अहंकार तोड़ रहा है और हमारी चेतना के विकास का रास्ता साफ कर रहा है। ज्यादातर दुःख में ही भगवान याद आता है, और भगवान को याद रखना स्वयं में एक प्राप्ति है। भागवत में कथा आई है कि कुन्ती ने भगवान श्रीकृष्ण से विपत्ति का अर्थात् दुःख का वरदान माँगा (“विपदः सन्तु नः शश्वत....”) क्योंकि विपत्ति में आपके (भगवान के) दर्शन होते हैं (“भवतो दर्शनं यत्र.....”)। दुःख में भगवान मिलते हैं और जब भगवान मिलते हैं तो दुःख नहीं रह जाता। अतः कुन्ती के कथन का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जीवन में केवल दुःख ही दुःख मिलता रहे, वरन् यही अर्थ लगाना उचित है कि दुःख में भगवान याद आते हैं, और दुःख भगवान के मिलने का साधन है। किन्तु भगवान के मिल जाने के बाद फिर दुःख कहाँ रहेगा?

दुःख स्वीकार करने का अर्थ प्रयत्न छोड़ना नहीं है—

कोई यह तर्क दे सकता है कि दुःख स्वीकार कर लेने से हम निष्क्रिय हो जायेंगे, हम फिर प्रयत्न ही नहीं करेंगे फलतः जीवन में दुःख हमेशा बना रहेगा। इस तर्क में यह सत्य है कि प्रयत्न करने से ही दुःख जाएगा, निष्क्रिय हो जाने से नहीं। किन्तु यहाँ समझने की बात है कि मन से दुःख को स्वीकार कर लेना और सह लेना एक बात है और दुःख निवृत्ति के लिए प्रयत्न न करना या निष्क्रिय हो जाना दूसरी बात है, दोनों में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। दुःख को स्वीकार करना एवं सहन करना प्रयत्न में ही शामिल है, यह प्रयत्न का ही पहला कदम है। पिछले पृष्ठों में इस बात पर चर्चा हो चुकी है कि दुःख को न आने देने (अर्थात् न सहने) से दमित (या अवरुद्ध) दुःख हमारी मानसिक शक्तियों (प्रयत्न करने की शक्ति) को कुण्ठित कर देता है और दुःख को आने देने पर अर्थात् सहते चलने पर अवरुद्ध शक्तियाँ खुल जाती हैं और हम प्रयत्न करने लगते हैं। यदि हम दुःख को मन में रोके रहेंगे (उसे आने नहीं देंगे और नहीं सहेंगे) तो प्रयत्न ही नहीं कर पायेंगे। अतः निष्कर्ष यह है कि हम दुःख को सहते चलें और साथ ही दुःख हटाने का और सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते चलें। इतना ही नहीं है कि दुःख सह लेने और प्रयत्न करने में कोई विरोध नहीं है वरन् उलटे यह भी है कि अस्वीकृत दुःख के कारण प्रयत्न में जो अवरोध आ जाता है वह दुःख को स्वीकार कर सह लेने से दूर हो जाता है और हम प्रयत्न करने में सक्षम हो जाते हैं। अतः इन दोनों बातों को साथ लेकर चलना होगा। इसी बात को ध्यान में रख कर यह कहावत कही जाती है कि “जो अच्छा नहीं किया जा सकता अर्थात् जिसकी दवा नहीं हो सकती उसे सह लेना चाहिए”

(“What cannot be cured, must be endured”)।

इस सन्दर्भ में एक और बात है। अध्यात्मिक जगत का एक सत्य है कि सब कुछ हमारे प्रयत्न पर ही निर्भर नहीं है वरन् ईश्वरीय कृपा पर निर्भर है। हमसे जितना हो सकता है करें, बाकी भगवान करेगा (या भगवान में विश्वास न हो तो कहें कि प्रकृति करेगी)। मनुष्य की शक्ति तो बहुत सीमित है किन्तु ईश्वरीय शक्ति असीम है (मनुष्य में जो भी शक्ति है वह ईश्वरीय कृपा से ही है)। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि जीवकर्तृत्व से नहीं वरन् ईश्वर कर्तृत्व से सफलता मिलती है। कबीरदास ने कहा है “ईश्वर से सब होता है, मनुष्य से नहीं, ईश्वर राई को (अत्यंत छोटी वस्तु) को पर्वत (बहुत बड़ी वस्तु) बना सकता है और पर्वत को राई बना सकता है —

“साहिब से सब होत है, बन्दा से कछु नाँहि।

राई से पर्वत करे, पर्वत राई माँहि।।

किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि विना प्रयत्न किए ईश्वर कृपा नहीं करता है, क्योंकि प्रयत्न करना ईश्वर की सृष्टि का नियम है। प्रयत्न करने से मनुष्य पात्र बनता है और पात्र बनने पर ही ईश्वर कृपा करता है। प्रयत्न करने से ईश्वर प्रसन्न होता है और कृपा करता है। यह जो कहावत के तौर पर कहा जाता है कि “भगवान के घर देर है, अंधेर नहीं” तो वस्तुतः भगवान के घर देर भी नहीं है, देर तो इसीलिए होती है कि अभी हम पात्र नहीं बने होते हैं। जिस क्षण हम पूरे पात्र बन जाते हैं उस क्षण कृपा हो जाती है। अतः कृपा के लिए भी पात्र बनना आवश्यक है और पात्र बनने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। इसीलिए अंग्रेजी में कहावत है जिसका अर्थ है भगवान उन्हीं की मदद करता है जो खुद अपनी मदद करते हैं (“God helps them who help themselves”), अथवा “अपने से जो सर्वोत्तम हो सकता है वह करो, और

बाकी भगवान पर छोड़ दो” (“Do your best and leave the rest to God”), “जब आदमी हिम्मत करके प्रयत्न करता है तो खुदा मदद करता है” (“हिम्मते मर्दा, मददे खुदा”)। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के प्रारंभ में ही अर्जुन को कर्तव्य-प्रयत्न करने के लिए जगाया है — “हे पार्थ (अर्जुन), तुम नपुंसक मत बनो, नपुंसकता तुम्हारे उपयुक्त नहीं है, हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर उठो”। तात्पर्य यह कि ईश्वर-कृपा (Grace) एवं आत्म-प्रयत्न (self-effort) में कोई विरोध नहीं है वरन् दोनों परस्परापेक्षी हैं। निष्कर्ष यह कि हमको जो शक्ति प्राप्त है उससे प्रयत्न करें, बाकी सब काम ईश्वर-कृपा से पूर्ण हो जाएगा।

अंत में हम इसी सन्दर्भ की एक कहानी का उल्लेख कर इस आलेख को पूरा करेंगे। कहानी भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की जातक-कथा से संबंधित है। बुद्ध अपने पुराने एक जन्म में व्यापारी थे। वे जहाज लेकर जावा-सुमात्रा द्वीप गए थे और वहाँ से लौट रहे थे। इसी बीच तेज आँधी आने से उनका जहाज डूबने लगा। जहाज पर के लोग अपने डूबने की स्थिति में आ गये। किन्तु बुद्ध पानी में तैरने लगे। उनके साथियों ने कहा—तैरने से कोई फायदा तो है नहीं, किनारा सैकड़ों मील दूर है, फिर डूबना तो है ही। बुद्ध ने कहा जब तक तैर सकूँगा तब तक तैरूँगा। साथियों ने कहा कि अंत में तो थक कर डूब ही जाना है अतः तैरना बेकार है। साथियों ने तैरने का प्रयत्न नहीं किया और वे वहीं डूब गए। किन्तु बुद्ध तैरते रहे। थोड़ी देर में उनके हाथ पैर थकने लगे, किन्तु उन्होंने मन में निश्चय किया कि जब तक अंतिम साँस रहेगी तब तक तैरता रहूँगा। अब अंतिम समय आने ही वाला था किन्तु इसी बीच बुद्ध ने देखा कि पानी की सतह पर क्षितिज में एक देवी प्रकट हुई। बुद्ध ने देवी को

पर्यावरण आचारशास्त्र और भारतीय चिन्तन परंपरा

डॉ० धर्मजंग

आभार :

प्रस्तुत लेख प्रो० सिद्धनाथ उपाध्याय (आचार्य रसायन अभियांत्रिकी, प्रौद्योगिकी संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) द्वारा समय-समय पर दिए गये व्याख्यानों पर आधारित है। लेखक उनसे प्राप्त सुझावों एवं मार्गदर्शन के लिए आभारी है।

मनुष्य को सभ्यता का इतिहास मूलतः प्रकृति के साथ उसकी गृहस्थी का इतिहास है। वर्तमान मानव समाज के लिहाज से पिछले दस बारह हजार वर्षों के अन्तराल में मानव समाज ने अपेक्षाकृत बेहतर जीवन स्तर के लिए प्रकृति-जल, जमीन, वायुमण्डल के समीकरण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन व नियंत्रण जरूर कर लिया है, किन्तु ऐसा करते हुए उसने हमेशा प्रकृति के मूल नियमों के मुताबिक ही अपने परिवर्तनों का तालमेल किया है। क्योंकि उसे मालूम था कि प्रकृति को होने वाली स्थायी और बड़ी क्षति अन्ततः उसे ही नष्ट कर देगी। परन्तु पिछले कुछ दशकों में औद्योगिक एवं पूँजीवादी व्यवस्था में हुए परिवर्तनों ने शीघ्र लाभ के लिए प्रकृति का ऐसा शोषण आरंभ कर दिया है कि आज सम्पूर्ण विश्व के सामने पर्यावरण संकट की भयावह स्थिति उठ खड़ी हुई है।

हम जानते हैं कि प्राकृतिक पर्यावरण के प्रत्येक उपादान का दूसरे उपादानों के साथ अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समग्रता से कुछेक लोग अपने को अलग करके खुद को ऐसी भिन्नतर प्रजाति में बदल सकते हैं, जिन्हें प्रकृति और पर्यावरण के विनाश से कोई फर्क नहीं पड़ता—ऐसा सोचना अवैज्ञानिक है। आज जो लोग सोचते हैं कि वे समस्त प्रकृति पर कब्जा करके अपनी सुविधाओं

और सम्पदा में वृद्धि कर लेंगे, वे अत्यन्त अदूरदर्शी और अल्पकालिक महत्त्वाकांक्षी कहे जायेंगे। क्योंकि जिस द्रुतगति से इस पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण और विनाश हो रहा है उससे आगामी कुछ दशकों में पृथ्वी का वातावरण किसी भी जीवित प्राणी के लिए अत्यन्त कष्टकारी हो जाएगा।

वास्तव में अर्थशास्त्र एवं पारिस्थितिकी के सिद्धान्त अलग दिशाओं में कार्य करते हैं। आज मानव जाति अपनी संख्या और उत्पादन तथा संसाधनों के प्रयोग को अपने विनाश को निमंत्रित किए बिना बनाए नहीं रख सकती है। इसके साथ ही वर्तमान आर्थिक प्रणाली में ऐसी कोई पुनर्निर्देशन व्यवस्था नहीं है जो उत्तरजीविता के विरुद्ध कार्य करने वाली सभी प्रक्रियाओं पर रोक लगा सके। आज अधिक से अधिक लोग अर्थशास्त्र एवं पर्यावरण गुणवत्ता को प्रश्नवाचक दृष्टि से देखने लगे हैं। क्या विकास वास्तव में आवश्यक है? क्या हमें जनसेवी योजनाओं की लागत एवं लाभ को केवल रूपयों में ही आँकना चाहिए? दिनोंदिन इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना दुष्कर होता जा रहा है।

विश्व में अधिकांश लोगों को न तो पारिस्थितिकी का ज्ञान है और न हमारे उत्तरजीविता के लिए संघर्ष का। वे इस बात को महसूस ही नहीं करते हैं कि हमारी अधिकांश गतिविधियाँ प्रकृति के प्रतिकूल हैं। फिर भी कुछ इने गिने लोग ऐसे हैं जो इस प्रकार की मनोवृत्ति के खिलाफ आवाज उठाते रहे हैं। यह भावना जनसामान्य तक पहुँचने लगी है और इसी के साथ “पर्यावरणीय आचारशास्त्र” का प्रादुर्भाव भी हुआ है। पर्यावरणीय आचारशास्त्र के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व के बारे में एक नई सोच एवं नई संज्ञानता का उद्भव हुआ है।

आचारशास्त्र को अंग्रेजी में Ethics कहते हैं Ethics शब्द ग्रीक भाषा के 'Ethike' या 'Ethikos' से बना है। उसके कई अर्थ हैं—

- * नैतिक मूल्यों एवं सिद्धान्तों का एक समूह
- * नैतिक मूल्यों की प्रमेय या प्रणाली
- * किसी व्यक्ति या समूह के आचरण को नियमित करने वाले नियम।

पर्यावरण के दृष्टिकोण से इतना कहना पर्याप्त है कि आचार-शास्त्र मनुष्य के चरित्र को उसके कार्यों एवं प्रकृति के प्रति उसके व्यवहार द्वारा परिभाषित करता है। यह चरित्र, विकास के साथ-साथ विकसित हुआ है और प्रकृति के अनुरूप ढलने की आवश्यकता से प्रभावित हुआ है। इस प्रकार 'आचारशास्त्र' हमारे कार्य करने के तरीकों को नियंत्रित करता है तथा हमारे पर्यावरण के फलस्वरूप ही है। जब हम पर्यावरण संक्रमण का जिक्र करते हैं तो वास्तव में हम यह कहना चाहते हैं कि हमारा कार्य व्यवहार (आचार) पर्यावरण के अनुकूल नहीं है।

प्रारंभ में मानव पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करके रहता था। तथाकथित विकास क्रम में इसमें व्यवधान उत्पन्न हो गया। दशकों के विकास के चलते आज पर्यावरण एवं मनुष्य के बीच अनुरूपता नहीं रह गयी है। पारिस्थितिकी के संदर्भ में इस तरह के कदानुकूलन के चलते हमारे समक्ष मात्र दो विकल्प रह गये हैं—

- (अ) धीरे-धीरे विलुप्त हो जाना, या
- (ब) उचित प्रकार के आकार-प्रकार और गुण धर्मों के विकास द्वारा पर्यावरण के अनुकूल ढलने का प्रयास करना।

अगर हम दूसरे मार्ग को चुनते हैं तो हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि चरित्र, गुण-धर्म या आचार-शास्त्र में यह परिवर्तन कैसे होगा? डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार अनुकूलन में सैकड़ों

वर्ष लगेंगे और कई पीढ़ियाँ गुजर जायेंगी। हमारा वर्तमान सामाजिक ढाँचा भी इस प्रकार के अनुकूलन के विपरीत कार्य करता दिखता है, क्योंकि समाज भी अधिकतर पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले का ही सम्मान करता दिखाई पड़ता है, संवर्धन करने वालों का नहीं। अस्तु उपयुक्त मार्ग के चुनाव की प्रक्रिया दो-तीन पीढ़ियों में ही पूरी हो जानी चाहिए। ऐसा व्यक्तिगत और सामाजिक स्तरों पर होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपना चरित्र, अपना आचार-व्यवहार व जीने का तरीका इस प्रकार परिवर्तित करना चाहिए कि वह विश्व पर्यावरण के अनुकूल बन सके। इस प्रकार के परिवर्तन से प्राकृतिक संसाधनों के अक्षुण्ण भण्डार को मिल जुल कर उपयोग करने को बल मिलेगा। इस हेतु हमें अपनी जरूरतों को घटाना होगा तथा यह ध्यान रखना होगा कि जिन पदार्थों का हम उपयोग करें, वे पुनःपूर्ति योग्य होने चाहिए।

वस्तुतः पर्यावरणीय आचारशास्त्र उसी विस्तृत पर्यावरण दर्शन का अभिन्न अंग है, जो विश्व व ब्रह्माण्ड की गतिविधियों को समझने-बूझने में लिप्त होने के साथ-साथ इन गतिविधियों में मानव समाज की क्या स्थिति है यह भी जानने समझने का प्रयास करता है। सुदृढ़ पर्यावरणीय आचारशास्त्र व पर्यावरण की सुस्पष्ट जानकारी, विज्ञान की अच्छी समझ के लिए आवश्यक है क्योंकि ये मनुष्य के विचारों व क्रिया-कलापों के लिए मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। परन्तु इन्हें आत्मसात करने के लिए मात्र सामान्य विज्ञान से ही काम नहीं चल सकता है, कुछ और भी गहराई तक जानने समझने की आवश्यकता है।

भारत में, जो एक बहुजैवविविधता वाला देश है, पर्यावरण संरक्षण के प्रति प्रारंभिक काल से ही संवेदनशील दृष्टि रही है। जिसके कारण हमारा देश अभी भी जैवविविधता की दृष्टि से समृद्ध है।

प्रकृति के साथ सामंजस्य बना कर चलने की एवं उसके संरक्षण की दृष्टि भारतीय समाज के सामान्य जीवन के तौर-तरीके में आन्तरिक स्तर पर शामिल है। सनातन परंपरा और वैदिक दृष्टि पर्यावरण के प्रति एक विशेष मूल्यपरक जीवन-दृष्टि प्रदान करती है न कि एक उपभोक्तावादी। आज वैश्वीकरण के दबाव में पर्यावरण और जैव-विविधता के ऊपर भयानक खतरा मंडरा रहा है। ऐसी स्थिति में परंपरागत भारतीय चिन्तन से प्राप्त ज्ञान, अनुभव और उससे प्रेरित पर्यावरणीय नीतिशास्त्र और क्रियाकलाप ही आसन्न समस्या का सामाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

भारत में पर्यावरणीय नीतिशास्त्र की दृष्टि का विकास 'सर्वजीववाद' या 'सर्वभूतहितेरता' की भवना से हुआ है। भारतीय ऋषियों ने कहा है कि 'आत्मानां प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्', जो कि जीवन के हर पक्षों को स्पर्श करता है। यह परिस्थितिकीय चिन्तन के प्रति एक ठोस वैचारिक धरातल प्रदान करता है। भारतीय चिन्तन परंपरा में प्रकृति के प्रति प्रेम, संरक्षण और उसके प्रति जागरुकता की भावना गहरे में विद्यमान है। हमारे यहाँ सभी जीवों का जीवन मूल्यवान, अर्थवान और पवित्र है, चाहे वो मनुष्य हो या पशु या फिर पेड़-पौधे ही क्यों न हो। सनातन भारतीय जनमानस वृक्ष के विभिन्न अंगों में आम भारतीय पौराणिक त्रिदेवों के निवास में विश्वास करता है—

“मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतोविष्णुरुपिणो।

अग्रतः शिवरूपाय वृक्षराजाय ते नमः॥”

भारतीय चिन्तन, प्रकृति से मित्रवत संबंध रखने हेतु प्रेरित करता है, पाश्चात्य चिन्तन की तरह प्रकृति विजयी होने का नहीं। यही मित्रता जब श्रद्धा से जुड़ती है तो भारतीय पर्यावरण वादी प्रकृतिपूजक, मूर्तिपूजक हो जाता है और पर्यावरण के सुख-दुःख से अपना अंतः सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

भारतीय चिन्तन परंपरा में नदी, वन, भूमि, पशु-पक्षी सभी को प्रकृति माता का उपहार मानते हुए कहा गया है कि “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” (अथर्ववेद 12/1/12) अर्थात् भूमि माता है, मैं भूमि का पुत्र हूँ।

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर प्रकृति को आदर की दृष्टि से देखते हुए कहा गया है कि—

“समुद्रवसने देविः पर्वतस्तन मण्डले।

विष्णुपत्नीः नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे॥”

अर्थात् “समुद्र रूपी वस्त्र धारण करने वाली और चराचर प्राणीरूप अपनी संतानों के पोषण हेतु जीवनदायिनी नदियों रूपी दुग्धधाराओं को जन्म देने वाली पर्वत रूपी स्तनों वाली, हे विष्णुपत्नी भूमाता अपने ऊपर पैर रखने के लिए मुझे क्षमा करें।”

यजुर्वेद के शान्तिपाठ (36/10) में प्रकृति की समस्त इकाईयों में शान्ति की कामना करते हुए कहा गया है—

“ऊँ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथ्वी शान्तिः रापशान्ति रौषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति विश्वदेवाः शान्ति, ब्रह्म शान्ति सर्व शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधिः ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥”

शान्ति की खोज में निकला भारतीय ऋषि सिर्फ पृथ्वी तक ही नहीं रुकता बल्कि उसकी यात्रा आंतरिक्ष, द्यु लोक विश्वदेवों से होते हुए ब्रह्म तक पहुँचती है। उस यात्रा से वनस्पतियाँ और औषधियाँ भी अछूती नहीं रहती, वह जड़ और चेतन आदि सब में व्याप्त शान्ति को भी स्वयं में समाहित करने की कामना करता है।

आज जब सम्पूर्ण विश्व में स्वच्छ पेयजल की कमी एक बड़ी समस्या के रूप में उभर कर आयी है और यह कहा जा रहा है कि अगर तीसरा विश्वयुद्ध हुआ तो वह जल के लिए ही होगा, ऐसे में जल स्वच्छता व इसे पवित्र रखने का अर्थववेद

का एक मंत्र उद्धृत करना समीचीन होगा—“आपो भद्रा धृतमिदाय, आसन्न अग्नि सामौ विभ्रत्याप इत्ता ।।” (काण्ड 3, सूक्त 14/5) इसमें यह संदेश दिया गया है कि जल, अग्नि (उर्जा) और सोम को धारण करता है, अतः इसे सुरक्षित एवं पवित्र रखा जाय।

इसी प्रकार जब हम वायुप्रदूषण और वैश्विक उष्मन के संदर्भ में सम्पूर्ण पृथ्वी को घेरे रहने वाली ओजोन गैस परत के क्षय के संदर्भ में विचार करते हैं तो पाते हैं कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी इसका उल्लेख परोक्ष रूप में मिलता है। ऋग्वेद में ओजोन की परत के लिए ‘महत उल्ब’ शब्द आया है और उसे स्थविर अर्थात् मोटी परत कहा गया है।

“महत तदुल्बं स्थविरं तदासीधेनाविष्टितः प्रविर्वैशियापः। विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदास्तन्वो देव एकः।।”

(ऋग्वेद 10/51/1)

अथर्ववेद में इसका रंग सुनहरी बताया गया है—

“आपो वत्सं जनयन्तीगर्भमग्रे समैरयन्।

तस्योत जायमानस्थोल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।”

(अथर्ववेद 4/2/8)

गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए घेरे रहने वाली झिल्ली के लिए ‘उल्ब’ शब्द है। पृथ्वी रूपी गर्भस्थ बालक की रक्षा के लिए यह ओजोन परत है, यह इन मन्त्रों का सार है। इसलिए अथर्ववेद में वायु के ‘विश्वभेषज’ बताते हुए सारे रोगों की चिकित्सा बताया गया है (अथर्ववेद 4/13/3)। अतः वायु की प्रदूषित न करने का भी संदेश यहाँ निहित है।

हम यह कह सकते हैं कि भारतीय परंपरा में सदैव से ही राष्ट्र निर्माण के लिए व्यक्ति निर्माण को आधार माना गया है। पर्यावरण के प्रति संचेतना की विकसित करने के लिए भी यहाँ यही प्रक्रिया अपनाई गयी। यहाँ माना गया है कि व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए व सम्पूर्ण मानव जाति के आवश्यक सभी गुण शिशु में संस्कार के रूप में बचपन से ही दिए जाए, ताकि जब वह युवावस्था में कदम रखे तब विश्व की सत व्यवस्था का वह सार्थक आधार बन सके।

चूँकि भारतीय अवधारणायें अपने प्रारूप में व्यक्ति को आधार मानती हैं, अतः उसे संस्कारित करना अपनी प्रक्रिया का प्रथम पग मानती है। शैशवावस्था से ही शिशु में पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता के संस्कार को अंकुरित किया जाता है। यहाँ ऐसा प्रयास किया जाता है कि एक शिशु जब युवक के रूप में विकसित हो तो उसमें पर्यावरण के स्वच्छ रखने की चेतना विकसित हो चुकी हो।

भारतीय मनीषा मानती रही है कि यदि व्यक्ति शिक्षित व उचित रूप से संस्कारित रहा तो समाज व राष्ट्र में उन संस्कारों का असर सदैव दृष्टिगत होगा और उसके परिणामस्वरूप शासन में कोई समस्या नहीं आयेगी। पर्यावरण के प्रति संचेतना को विकसित करने के लिए भी यहाँ यही प्रक्रिया अपनाई गयी, और यही भारतीय चिन्तन परंपरा की विशेषता है। ●

पृष्ठ 18 का शेष भाग

प्रणाम किया। देवी ने उपहास करते हुए कहा—“क्यों तैरने की कोशिश कर रहे हो, किनारा यहाँ से सैकड़ों कोस दूर है, पहुँच तो पाओगे नहीं”। बुद्ध ने जवाब दिया—“देवि, मेरे साथियों ने प्रारम्भ में मुझसे यही बात कही थी, किन्तु यदि मैं उनकी बात मान लेता और तैरकर इतनी दूर नहीं आता तो आपके दर्शन कैसे होते?” यह सुनकर देवी प्रसन्न हो गयी और बुद्ध को उठाकर किनारे पर पहुँचा दिया। इस कहानी का संदेश स्पष्ट है। जब तक कार्यक्षमता थी तब तक बुद्ध प्रयत्न करते रहे, उसके आगे के असंभव कार्य को दैवी शक्ति ने पूरा कर दिया। किन्तु यदि बुद्ध प्रयत्न ही नहीं करते तो देवी की कृपा ही नहीं मिलती और वे डूब जाते जैसा कि उनके साथियों के साथ हुआ। अतः प्रयत्न करना आवश्यक है। प्रयत्न करने पर दैवी कृपा प्राप्त होगी जो सफलता जो सफलता देगी। दुःख की निवृत्ति दैवी कृपा से ही होगी, किन्तु दैवी कृपा प्राप्त करने के लिए प्रयत्न तो करना ही होगा, देवी ने बुद्ध पर प्रारम्भ में ही कृपा नहीं किया, प्रयत्न करने (तैरने) के बाद ही किया। ●

उत्कृष्ट जीवन निर्माण में मानवीय मूल्यों की भूमिका

डॉ० सुनील कुमार सिंह

परिचय :

सामान्यतया व्यक्ति के जन्म एवं मृत्यु के बीच का काल ही 'जीवन' कहा जाता है। जीवन काल विभिन्न प्रकार के अनुभवों का मिश्रण होता है। व्यक्तिगत अनुभवों का मिश्रण होता है। व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर जीवन के सुखी अथवा दुखी होने की संकल्पना परिवर्तित होती रहती है। परन्तु व्यक्ति के सभी अनुभव उसके परिवेश में घटित हो रहे घटनाक्रमों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम होते हैं। व्यक्ति के वातावरण में होने वाले घटनाक्रमों पर उसका नियंत्रण नहीं अथवा अत्यन्त सीमित होता है, जबकि स्वयं की प्रतिक्रिया का मूल कारक होने के नाते व्यक्ति स्वयं अपनी प्रतिक्रिया का नियमन कर सकता है। अतः व्यक्ति को अपने वातावरण के घटनाक्रमों का नियन्त्रण करने के प्रयास की अपेक्षा स्वयं अपने आवेगों, संवेगों एवं अपनी आदतों नियमन करना चाहिए। सभी मनुष्यों में लगभग समान आवेग, संवेग होते हैं एवं उनके नियमन के तरीके ही हम सभी में आदत निर्माण हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन्हें समान रूप से सभी मनुष्यों में आपसी मेलजोल, सहयोग, आदर, प्रेम जैसी आदतों के रूप में देखा जा सकता है। इन्हें 'बुनियादी मानवीय मूल्यों' के रूप में भी देखा जा सकता है। एक अच्छे मानवीय व्यक्तित्व के निर्माण में इन मूल्यों की आधारभूत भूमिका होती है। उत्कृष्ट जीवन क्या है? उत्कृष्ट जीवन जीने में मानवीय मूल्य किस प्रकार सहायक है? प्रस्तुत लेख में इन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

उत्कृष्ट जीवन— उत्कृष्ट जीवन किसे कहेंगे? ऐसा जीवन जिसमें हमने शिक्षा संबंधी डिग्रियां बटोरी हैं, नौकरी प्राप्त की हैं, अच्छा घर बना लिया

है, मनमाने कपड़े पहनते हैं, मनमाने वाहन खरीद सकते हैं, मनमाने ढंग से विभिन्न प्रकार का भोजन करते हैं, क्या इसे हम उत्कृष्ट जीवन कह सकते हैं? मानें तो यह सब जीवन को बेहतर बनाने के साधन हो सकते हैं परन्तु इन साधनों की प्रचुरता मात्र उत्कृष्टता का आधार नहीं बन सकती है। आज आधुनिक जीवनशैली के अंतर्गत संसाधनों की प्रचुरता ने उपभोक्तावाद को जन्म दिया है एवं अविवेकपूर्ण संसाधनों के उपभोग की प्रवृत्ति ने पर्यावरण संकट को जन्म दिया है। विभिन्न प्रकार की आधुनिक जीवनशैली संबंधी बिमारियाँ जैसे—तनावजनित उच्च रक्तचाप, मधुमेह, यौन विकृति संबंधी रोग आदि जीवन को अल्पकालिक एवं कष्टमय बना रहे हैं। मूलतः देखने में आता है कि उपभोगी जीवनशैली की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राकृतिक संसाधनों के अनियन्त्रित दोहन में पूरा विश्व लगा हुआ है। आधुनिक युग में विकास का पैमाना अधिकाधिक ऊर्जा की खपत से जुड़ा हुआ है। अतः इसका प्रत्यक्ष संबंध उपभोग एवं प्रकृति दोहन से है। इसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक खतरे उत्पन्न हो रहे हैं। अनपेक्षित समय में विभिन्न प्रकार की बिमारियों का प्रादुर्भाव एवं उनकी जटिलता में वृद्धि किसी न किसी प्रकार प्रदूषण एवं उससे जनित खतरों से संबंधित हैं। अतः प्रकृति को नष्ट करके उत्कृष्ट जीवन का विकास कदापि संभव नहीं है क्योंकि इससे मूलतः असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है। यह तो व्यक्ति के प्राकृतिक परिवेश से जुड़ा पहलू है। दूसरी तरफ हम सामाजिक परिवेश की विवेचना करें तो पाते हैं कि जीवन की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के संचय हेतु बहुतेरे व्यक्ति विभिन्न प्रकार के भ्रष्ट आचरणों में अपने को पारंगत

बना लेते हैं। जैसे—सामान्य रूप में अपने दायित्वों का निर्वहन न करना, सुविधा शुल्क लेना, अपने दायित्व को बोझ समझकर दूसरों पर टालना, कार्य न करने के लिए आगन्तुकों से बहाने बनाना, लोगों को हतोत्साहित करना, दूसरों की त्रुटियाँ चिन्हित करना एवं स्वयं कुछ न करना। इस प्रकार सामाजिक परिवेश को दूषित करने का प्रयास भी कदाचित् उत्कृष्ट जीवन का विकास नहीं कर सकता है। बल्कि यह तो विभिन्न प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करता है जिससे व्यक्ति का आंतरिक परिवेश भी दूषित होना प्रारंभ हो जाता है। अतः अनुपयुक्त सामाजिक परिवेश व्यक्ति के आंतरिक परिवेश एवं प्राकृतिक परिवेश दोनों को ही नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

इस प्रकार अभी तक की चर्चा में हमने यह विचार किया कि हम किसे उत्कृष्ट जीवन को विकसित करने वाला नहीं मानते अथवा जिसे सामान्य रूप से उत्कृष्टता से जोड़कर देखा जाता है, वह यथार्थ में उत्कृष्टता पर नकारात्मक प्रभाव ही डालता है। परन्तु इन सबसे अभी भी हमें यह ज्ञात नहीं हुआ की उत्कृष्टता क्या है?

हाँ, इतना तो तय है कि उपभोग में रत रहना, प्रकृति का अनियंत्रित दोहन करना, सामाजिक परिवेश को भ्रष्टाचार युक्त करना यह सब जीवन को उत्कृष्ट नहीं बनाता। यह सभी व्यक्ति को आंतरिक संरचना को छिन्न-भिन्न करने का काम करते हैं। आशय यह है कि जो कुछ भी आपकी आंतरिक संरचना को खण्डित करने का कार्य करे वह उत्कृष्ट जीवन विकसित नहीं कर सकता।

निष्कर्षतः वह सब जो हमारी आंतरिक संरचना को अधिकाधिक समन्वित बनाए, जोड़ने में सहयोग प्रदान करे, सबल बनाए वह सब उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट जीवन का तात्पर्य ऐसे जीवन से है जो उत्तरोत्तर व्यक्ति को अधिक समन्वित, संतुलित एवं

सबल बनाता जाए। एक ऐसा जीवन जिसमें व्यक्ति का मस्तिष्क, हृदय एवं शरीर समन्वित रहे, एक-दूसरे को परस्पर बल प्रदान करे। समस्त आंतरिक अवयवों को एकाकार करे। एक ऐसा जीवन जिसमें व्यक्ति आंतरिक एकीकृत होने के साथ प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश के साथ भी एकीकृत हो सके, समन्वय स्थापित कर सके।

इस तरह के व्यक्तित्व का धनी व्यक्ति न तो सामाजिक रूप से भ्रष्ट होगा न ही प्रकृति का शोषक होगा। वह पूर्णतः समग्रता एवं समरसता का पोषक होगा। अतः उत्कृष्ट जीवन एक स्थिति है जहाँ से और बेहतर जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है। एक ऐसा जीवन :

- जिसमें व्यक्ति उत्साहित रहता है,
- जिसमें व्यक्ति उत्प्रेरित रहता है,
- जिसमें व्यक्ति क्रियाशील रहता है,
- जिसमें व्यक्ति तनावमुक्त रहता है,
- जिसमें व्यक्ति सहयोगी वृत्ति को अपनाना है,
- जिसमें व्यक्ति दूसरों (व्यक्तियों, पशु-पक्षियों, पौधों आदि) को सुखी देखकर आनन्दित होता है, एवं
- उत्तरोत्तर अपना एवं दूसरों का मार्ग प्रशस्त करता जाता है।

मानवीय मूल्यों की भूमिका— उत्कृष्ट जीवन निर्माण में मानवीय मूल्यों की क्या भूमिका है? यह ठीक उसी तरह का प्रश्न है जैसे जीवित शरीर हेतु प्राणों की क्या भूमिका है? दूसरे प्रश्न से पहले का उत्तर स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। परन्तु सटीक विवेचना हेतु आइए पहले मानवीय मूल्यों पर कुछ विचार करें। मानवोत्पत्ति के साथ ही मानवीय मूल्यों का भी प्रादुर्भाव हुआ। ऐसे सभी मूल्य जो मानव जीवन को एकीकृत, सुन्दर एवं कल्याणकारी बनाते हैं उन्हें मानवीय मूल्यों की संज्ञा दी जा सकती है। जन्म के पूर्व ही मनुष्य को प्रेम एवं ममता प्राप्त होने लगती है। करुणामयी माँ द्वारा जन्म के साथ ही

उसे जीने का अवसर प्राप्त होता है। परिवार के सानिध्य एवं संरक्षण में उसे सहयोग सुरक्षा एवं सबलता प्राप्त होती है। समानता एवं भाईचारे की भावना भी यहीं से प्रारंभ होती है। परिवार से बाहर पड़ोसी भी इन मूल्यों के संवर्धन में सहयोग देते हैं। विद्यालय की भूमिका यहाँ एक कुशल कारीगर की होनी चाहिए क्योंकि यहाँ हमें सचेत होकर इन मूल्यों को पुनः चिन्हित, पुष्ट एवं प्रचारित करने की जरूरत होती है जिससे यह मूल्य विद्यार्थियों के चरित्र के प्रबलतम पक्ष (सदगुण) के रूप में विकसित हों।

विद्यालयों की प्राचीर पार करके विद्यार्थी युवावस्था के उत्कृष्टतम दौर में होते हुए विश्वविद्यालयों में प्रवेश करते हैं। यहाँ उन्हें अपनी ऊर्जा के बचपन से प्राप्त उपरोक्त मूल्यों से सींचने की होती है एवं इन्हें सामाजिक सरोकारों की आकांक्षा को मूर्तवत रूप देने की होती है, जिससे हम उत्कृष्टता की तरफ उन्मुख हो सकें। तो ऐसे में क्या करें—

(क) अपने आप पर विश्वास बनाएँ रखें एवं इसके लिए महापुरुषों के लेखों, जीवन चरित्र एवं किताबों से नियमित संपर्क में रहें।

(ख) जन्म से विरासत में माता—पिता एवं परिवार—समाज से प्राप्त सदगुणों को याद रखे एवं उनके प्रति आस्थावान बने।

(ग) मन, मस्तिष्क एवं शरीर का समन्वय शारीरिक श्रम, मानसिक मंथन एवं सकारात्मक सोच द्वारा एकीकृत करते रहें। ऐसा करके ही शारीरिक एवं मानसिक रूप से सक्षम बना जा सकता है।

(घ) अपने भौतिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपनी सभी सकारात्मक शक्तियों को एकाग्र कर प्रयास करते रहें।

(ङ) याद रखें जीवन का उद्देश्य मात्र भौतिक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं अतः विरासत में प्राप्त मूल्यों

का अभ्यास न छोड़े बल्कि समय—समय पर उनका अभ्यास करें।

(च) अपने विषय के साथ ही सामयिक समाज के आदर्शों/उद्देश्य को भी जानें।

(छ) अनुशासन प्रिय बनें, हठधर्मिता त्यागें, बाँटना सीखें, मुफ्त में लेने—देने की भावना से मुक्त हों, सहभागिता—सहयोग—समन्वय विकसित करें।

(ज) परखना सीखें, निर्णय लें एवं नकारात्मक पहलुओं को त्यागने का अभ्यास करें।

(झ) अपने विषय, अपने आंतरिक—सामाजिक—प्राकृतिक परिवेश में समन्वय बनायें।

(ञ) सोचें—विचारें, निर्णय ले एवं तदनुरूप क्रिया करे एवं करते रहें। चलते रहें।

निष्कर्षतः उत्कृष्टता कोई शिखर नहीं है। यह तो सदमार्ग है। सुन्दर, सुखकारी, कल्याणकारी। एक सतत् प्रयास है, अनन्त संभावनाओं की ओर बिना थके, बिना हारे चलते जाने का। ●

**सच्चा तप यह है कि
अपने भाइयों के ताप से तपा
जाय, सच्चा यज्ञ यह है
जिसमें अपने स्वार्थ की आहूति
दी जाय। सच्चा दान यह है
कि परमार्थ किया जाय, और
सच्ची ईश्वर सेवा यह है कि
उसके दुःखी जीवों की
सहायता की जाय।**

—महामना पं० मदनमोहन मालवीय

मूल्य सम्बर्धन में विद्यालयों की भूमिका

डॉ० ओंकार सिंह

सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

वर्तमान समय में वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणाम स्वरूप द्रुत गति से होने वाले आधुनिक औद्योगिक विकास, जनसंख्या विस्फोट एवं नगरीकरण के कारण आज मानव निरन्तर विनाश की ओर अग्रसर है। वर्तमान परिवेश में चारों तरफ हिंसा, अराजकता और भ्रष्टाचार आदि की भयावह स्थिति व्याप्त है, जिससे मानवीय जीवन अस्त-व्यस्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में पहुँच गया है, जिसका मुख्य कारण सही-गलत नैतिकता-अनैतिकता की बीच अन्तर करने की विवेकशक्ति का क्षीण होना है। इस अनिर्णय एवं भौतिकता युक्त परिवेश में मानव जीवन में अशान्ति, निराशा, भय, लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या, अवसरवादिता, चाटुकरिता आदि ने कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी, त्याग, साहिष्णुता आदि का स्थान ले लिया है, जिससे मानवीय मूल्यों में हास हुआ है।

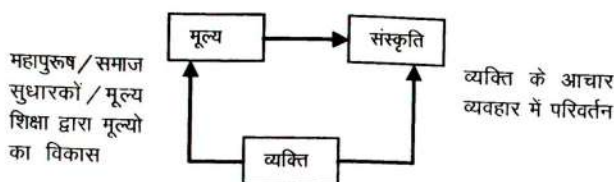
मूल्य सम्बर्धन में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा ही वह सशक्त माध्यम है, जिसकी सहायता से मानवीय मूल्यों का संरक्षण एवं सम्बर्धन किया जा सकता है। आधुनिक परिवेश में स्वामी विवेकानन्द का कथन— “शिक्षा का लक्ष्य मानव निर्माण हो” यथार्थ प्रतीत होता है। परन्तु वर्तमान समय में शिक्षा का एकांगी रूप दिख रहा है, जिसका केवल एक उद्देश्य छात्रों का मानसिक विकास एवं पुस्तकीय ज्ञान पर बल देना है तथा परीक्षा में अधिक से अधिक अंको के साथ डिग्री प्राप्त कर नौकरी पाना है। वर्तमान वैश्विक पर्यावरण में छात्रों के समक्ष मानसिक द्वन्द एवं अनिर्णय की स्थिति व्याप्त है, इस मूल्यद्वन्द की कलुषित परिस्थिति

को हटाना तथा मूल्य शिक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रत्यय से विद्यार्थियों को परिचित कराना आज की शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। मूल्य शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों में भौतिक समृद्धि एवं अध्यात्मिकता के मध्य सामंजस्य स्थापित कर मानवीय मूल्यों को विकसित किया जा सकता है, जिससे मानव के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करके सही अर्थों में मानव को ‘मानव’ बनाया जा सके।

डॉ० राधाकृष्णन् का कथन— “आधुनिक मानव ने पक्षी की तरह आकाश में उड़ना सीख लिया, सागर में मछली की तरह तैरना सीख लिया, परन्तु पृथ्वी पर मानव की तरह चलना भूल गया”— यहाँ समीचीन होगा।

मूल्य एवं मूल्य शिक्षा

मूल्य मानव के व्यवहार को नियन्त्रित एवं निर्देशित करते हैं। मूल्य एक ऐसी आचार संहिता या सद्गुणों का समूह है, जिसे मानव अपने संस्कारों तथा पर्यावरण के माध्यम से अपनाकर अपने निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु जीवन पद्धति का निर्माण कर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इनमें मनुष्य की धारणायें, विचार, विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था एवं निष्ठा आदि समाहित होते हैं। ये मूल्य एक ओर व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा नियन्त्रित होते हैं तो दूसरी तरफ संस्कृति एवं परम्परा द्वारा क्रमशः निस्सृत एवं परिपोषित होते हैं। इस मानव जीवन शैली के निर्माण की आधारशिला समाज द्वारा विकसित शिक्षा एवं शैक्षिक प्रक्रिया के द्वारा होती है, जो औपचारिक एवं अनौपचारिक परिवेश में मूल्य शिक्षा के माध्यम से समाज में मूल्यों की ‘संस्कृति’ विकसित करता है, जो मानव का आचार व्यवहार प्रभावित करता है।



अतः मूल्य शिक्षा से अभिप्राय उस शैक्षिक प्रक्रिया से है, जिससे व्यक्ति में उचित दृष्टिकोण, भाव एवं चरित्र का निर्माण होता हो तथा जीवन के प्रति ऐसे सकारात्मक दृष्टिकोण का सृजन करना सम्भव हो सके, जो विद्यार्थी के जीवन से प्रारम्भ होकर परिवार, समुदाय, समाज, राष्ट्र एवं विश्वस्तर पर सृजन कर सके। मूल्य शिक्षा द्वारा छात्रों में सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ व्यवहारिक कुशलता विकसित करना मुख्य उद्देश्य होता है, जिससे शाश्वत मूल्यों को जीवन में आत्मसात कर वास्तविक रूप में मानव को 'मानव' बनाने में सहयोग कर सकें।

विद्यालय स्तर पर मूल्य सम्वर्धन

मूल्य शिक्षा को प्रभावी ढंग से किस प्रकार छात्रों को प्रदान किया जाए? एक यक्ष प्रश्न है, परन्तु इस विषय में कुछ स्पष्ट करने से पूर्व महाभारत के उस प्रसंग की ओर संकेत करना होगा, जिसमें गुरुजी युधिष्ठिर को "क्रोधं मा कुरु" पाठ को याद करने में असफल होने पर प्रताड़ित करते हैं। गुरुजी को विस्मय मिश्रित क्रोध है कि जब मन्दमति के छात्र भी उक्त पाठ को याद करने में सफल है तो उनके इस मेधावी छात्र को ऐसा क्या हुआ? गुरुजी के विस्मय भाव को उनके योग्य छात्र ने दूर किया। युधिष्ठिर का कहना था— गुरुजी जब तक मैं क्रोध करता रहूँ, तब तक कैसे कह दूँ, 'क्रोधं मा कुरु' पाठ मुझे याद हो गया। युधिष्ठिर के लिए 'क्रोधं मा कुरु' एक वाक्य भर नहीं था, बल्कि एक मूल्य था। उस मूल्य की शिक्षा वाक्य को तोते की तरह रट लेने मात्र से पूरी नहीं होती, बल्कि क्रोध न आये, ऐसा चरित्र विकसित करना था। इस प्रकार

छात्रों के मन में मूल्य शिक्षा के प्रति युधिष्ठिर सा अनुराग एवं समर्पण जगाने की आवश्यकता है। इसके लिए आवश्यक है विद्यालयी परिवेश में मूल्य शिक्षा के पाठ्यक्रम, शिक्षकों कर्मचारियों का व्यवहार एवं मूल्य संवर्धन हेतु संचालित गतिविधियों का क्रियान्वयन मूल्योन्मुखी हो।

विद्यालयी पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पाठ्य विषयों को मूल्योन्मुख बनाने की दिशा में पाठ्य पुस्तकें एवं उनमें निहित सामग्री, इस प्रकार हो जिसके माध्यम से विभिन्न नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, संवैधानिक, आध्यात्मिक आदि मूल्यों को सहज रूप दिया जा सकें। विभिन्न शिक्षा आयोगों ने समय-समय पर छात्रों में नैतिक स्तर को उठाने के लिए ऐसे पाठ्यक्रमों की अनुसंशा की, जिसमें मानव धर्म के सारभूत सिद्धान्तों को रखा जाय।

शिक्षक ही समाज का भविष्य निर्माता है तथा औपचारिक शिक्षा में शिक्षण- प्रक्रिया का ध्वज वाहक है। शिक्षक का कार्य मात्र सूचनायें देना ही नहीं, बल्कि क्रियाओं/व्यवहारों को करके दिखाना भी है। पूर्व राष्ट्रपति ए०पी०जे० अब्दुल कलाम ने कहा था कि "सर्वप्रथम शिक्षक को प्रत्येक क्षेत्र में रोल मॉडल बनना चाहिए"। शिक्षक की कथनी और करनी में अन्तर नहीं होना चाहिए अन्यथा छात्रों पर उनकी बातों या नसीहतों का अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। मूल्य सम्वर्धन हेतु शिक्षकों को निम्न बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है—

- शिक्षक मूल्यों के प्रति अपने आत्म विश्वास को सुदृढ़ बनावें।
- शिक्षक का आचरण एवं व्यवहार इस प्रकार का हो कि सम्पर्क में आने वाले छात्र-छात्राओं पर अमिट प्रभाव डाल सके।
- कक्षा का वातावरण मित्रवत्, तनावरहित एवं लोकतांत्रिक हो, जिसमें प्रत्येक छात्र-छात्रा अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकें।

विद्यालय को ज्ञान एवं मूल्यों का केन्द्र माना जाता है। विद्यालयी परिवेश में औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रत्येक क्रियाकलाप किसी न किसी रूप में मूल्य सम्बर्धन में योगदान करते हैं। एक विद्यार्थी का 12वीं तक शिक्षा ग्रहण करने तक करीब 25 हजार घण्टे विद्यालयी वातावरण में व्यतीत करता है। विद्यालय में आयोजित प्रातःकालीन सभा, पाठ्यक्रम एवं पाठ्य सहगामी क्रियाएँ, सभी धर्मों के प्रति उत्सवों का आयोजन, कार्यानुभव, खेलकूद, विषय क्लब, समाज सेवा— जो छात्रों में सहयोग व पारस्परिक सद्भाव, निष्ठा एवं ईमानदारी, अनुशासन एवं सामाजिक दायित्व आदि जीवन मूल्य सम्बर्धन में सहायक होते हैं। इस प्रकार मूल्यों के विकास हेतु विद्यालयी वातावरण लोकतांत्रिक एवं उत्साहवर्द्धक, स्वच्छ, सौन्दर्यपूर्ण, अनुशासन प्रिय एवं सृजनात्मक होना चाहिए। जैसा कि शिक्षा आयोग (1964-66) में कहा गया है कि “विद्यालयी वातावरण, अध्यापकों का व्यक्तित्व एवं व्यवहार तथा विद्यालय में उपलब्ध भौतिक सुविधायें छात्रों को मूल्योन्मुख बनाने में विशेष भूमिका निभाते हैं।”

आलोचनात्मक मूल्यांकन

निष्कर्षतः मूल्य न तो कौशल है, और न ही ज्ञान का अंश है, जिन्हें सीखा जाये। यह तो आस्था एवं विश्वास है, आदर्श और प्रतिबद्धतायें हैं, जिनका सम्बन्ध मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक निर्माण से है। इस प्रकार मूल्यों की शिक्षा को सीखाकर नहीं बल्कि अनुभूत कराकर उन मूल्यों का मानव व्यवहार में सकारात्मक अभिवृत्ति विकसित करने में उपयोग किया जा सकता है।

विद्यालय ही वह सामाजिक संस्था है तथा शिक्षक ही वह माध्यम है, जो नवीन सन्तति में सार्वभौमिक मूल्यों का आज के भौतिकतावादी परिवेश में व्यवहारगत अभिवृत्तियों की ओर उन्मुख

कर उनके जीवन को परिष्कृत कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यालयी परिवेश में शिक्षक का व्यक्तित्व सकारात्मक सोच, कर्तव्यनिष्ठा, प्रतिबद्धता एवं मिशनरी प्रयास से ओत प्रोत हो, तभी वह मानव जीवन में मूल्यों को व्यवहारिक रूप देकर मूल्य शिक्षा को सही सन्दर्भों में जीवन की प्रयोगशाला बना सकेगा।

परिभाषात्मक एवं विश्लेषणात्मक रूप से सार्वभौमिक मानवीय मूल्य एवं शिक्षा एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि निरन्तर गरिमापूर्ण चिन्तन ही भारतीय समाज की परिभाषा है। इसीलिए जॉन डीवी ने समाज के एक उपग्रणाली के रूप में विद्यालय को समाज का एक लघु रूप कहा है। इस प्रकार विद्यालय सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक नियंत्रण एवं मूल्योन्मुख दृष्टिकोण विकसित कर व्यक्ति को निर्देशित करने का कार्य कर सकते हैं। ●

**बिना कई लोगों के मिले
कोई बड़ा कार्य नहीं हो
सकता। लोग आपस में
मिलकर तभी कार्य कर सकते
हैं, जब उनमें परस्पर विश्वास
हो। परस्पर विश्वास तभी
हो सकता है, जब सब के
सब सत्य के अनुयायी हो।**

—महामना पं० मदनमोहन मालवीय

शैक्षिक परिवेश में मूल्य विकास : शिक्षक की अहम् भूमिका

डॉ दीपा मेहता *

मनोज कुमार **

आज भारतीय समाज में हर कहीं मूल्य ह्रास पर चिन्ता जतायी जा रही है। विद्वानों के बीच प्रायः चर्चा का विषय भी मूल्य हीनता या नकारात्मक मूल्य है। कैसे प्राचीन भारतीय मूल्यों की पुर्नस्थापना की जाये? इस विषय पर कितने ही आयोग गठित किये गये कितनी ही विचार गोष्ठियां आयोजित की गईं लेकिन प्राप्त अनुशंसाओं तथा निर्णयों पर अमल पूर्ण रूप से नहीं हो सका।

मूल्य सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त आदर्श, विश्वास, सिद्धान्त एवं नैतिक नियम हैं। यद्यपि मूल्य का स्वरूप व्यक्तिगत होता है, लेकिन अंततोगत्वा यही मूल्य समाज की पहचान बनते हैं और समाज को समाज के व्यक्तियों, समाज के रीति रिवाजों, समाज की राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था आदि को अपने प्रभाव में ले लेते हैं; साथ ही स्वयं भी इन सभी व्यवस्थाओं से प्रभावित होकर तथा स्वयं में परिवर्तन लाकर, व्यक्ति के जीवन स्तर व वैचारिक स्तर आदि का उन्नयन कर व्यक्ति तथा समाज के कल्याण को सम्भव बनाते हैं। मूल्य विकास एक दिन में न होकर युगों के अनुभवों द्वारा होता है। विकास की प्रक्रिया में प्राचीन मूल्यों में परिवर्तन होता है, नवीन मूल्यों का सृजन होता है; कुछ मूल्यों में स्थायित्व आता है, साथ ही कुछ मूल्य शनै-शनै प्रभाव हीनता की ओर बढ़ते हैं।

वर्तमान सदी में भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। प्राचीन अविशिष्ट मूल्यों को समाज चाहकर भी छोड़ नहीं पा रहा है; और नये मूल्यों को अपनाना तो दूर स्पष्ट रूप से उनका परिसीमन तथा नियमन तक दुष्कर प्रतीत हो रहा

है। समाज का हर व्यक्ति “पर उपदेश कुशल बहुतेरे” की भूमिका में है, परन्तु क्रियान्वयन स्तर पर सभी अपनी भूमिका को लेकर सशक्त हैं।

समाज के कतिपय वर्गों द्वारा मूल्य हीनता से संबंधित समस्याओं का मूल मुख्यतः शिक्षा व्यवस्था को ही माना जा रहा है। क्या शिक्षा व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा राज-व्यवस्था से अप्रभावित रह सकती है? लेकिन जब भी कोई अपराधी अपराध करता है तो दोष शिक्षा व्यवस्था पर स्वतः आ जाता है, कोई नेता भ्रष्टाचार में लिप्त पाया जाता है तो दोष शिक्षा व्यवस्था में नजर आता है, कोई आतंकी घटना हो या नक्सलवादी आन्दोलन, समकालीन शिक्षा व्यवस्था के विरोध में स्वर उठने लगते हैं। इसका अर्थ है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था, राज व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था में या तो कोई दोष है ही नहीं और यदि कोई दोष है तो इसका कारण भी कहीं शिक्षा व्यवस्था में छिपा है।

शिक्षा व्यवस्था का समाज के निशाने पर आने के दो कारण हो सकते हैं प्रथम दृष्टया शिक्षा का मृदुलक्ष्य (Soft Target) होना तथा द्वितीयतः कि सभी की आशाएं सिर्फ शिक्षा पर ही टिकी हैं। सत्य भी प्रतीत होता है कि शिक्षा व्यवस्था द्वारा ही भारतीय समाज में मूल्यों की पुर्नस्थापना संभव है। भारत तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का परचम विश्व पटल पर एक बार पुनः लहराये और भारत अपनी विश्व गुरु की भूमिका का अनवरत निर्वहन करे इस हेतु भारतीय शिक्षा व्यवस्था को विश्व समुदाय में मूल्य विकास संबंधी चुनौति स्वीकार करनी ही होगी।

* वरिष्ठ प्रवक्ता, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** शोध छात्र, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शिक्षक मूल्य प्रणेता के रूप में:

किसी भी शिक्षा व्यवस्था के केन्द्रीय तत्त्व उसमें पढ़ने वाले विद्यार्थी तथा पढ़ाने वाले शिक्षक होते हैं, जिसमें दोनों की भूमिका बराबर की होती है, लेकिन उत्तरदायित्व शिक्षक का अधिक होता है। आज के शिक्षक के लिए सबसे चुनौतीपूर्ण कार्य विद्यार्थियों को श्रेष्ठ, जागरूक एवं सतर्कितनी मानव के रूप में परिष्कृत करना है और इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल मूल्य शिक्षा द्वारा ही संभव है। शिक्षक का उपरोक्त कार्य चुनौतीपूर्ण है क्योंकि अभिभावक अपने बच्चों को डाक्टर, इंजीनियर या अधिकारी बनाना चाहते हैं परन्तु इस असीमित आकांक्षाओं के पीछे एक अच्छा इंसान बनाने की बात कहीं नेपथ्य में लीन हो जाती है।

प्राचीन भारतीय शिक्षाविदों एवं विचारकों जैसे गांधीजी, टैगोर, अरविन्द, विवेकानन्द, महामना आदि द्वारा भी मानव निर्माण हेतु मूल्य शिक्षा पर उचित बल दिया गया है। परन्तु वास्तविकता यह कि समाज में भले व्यक्ति की तुलना में सफल व्यक्ति अधिक सम्मान पाता है। वस्तुतः 21वीं सदी में सफलता का पैमाना भी बदल गया है, भौतिक और आर्थिक समृद्धि ही सर्वत्र पूज्य हो गये हैं, जिसने सभी नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, चारित्रिक, सांस्कृतिक, संवैधानिक, पर्यावरणीय तथा मानवीय मूल्यों को गौण बना दिया है। इस तरह की परिस्थितियां जटिल तथा चुनौतीपूर्ण तो हैं ही साथ ही शिक्षक के कार्य को भी निश्चित रूप से दुष्कर बनाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक समाज आगे बढ़कर और विभिन्न कठिनाइयों एवं परिस्थितियों पर विजय पाकर मूल्य शिक्षा की चुनौती को पूरे जोश और साहस के साथ स्वीकार करें।

वर्तमान जटिल प्रौद्योगिकीय युग में शिक्षकों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह है कि किन मूल्यों

की शिक्षा दी जाये और किस प्रकार दी जाये, जिससे विद्यार्थियों को एक संवेदनशील मानव तथा राजनैतिक और सामाजिक चेतना से अनुप्राणित नागरिक के रूप में संवारा जा सके, जो आज की वैश्विक परिस्थितियों में श्रेष्ठ सामाजिक परिवर्तन का वाहक बन सके। राष्ट्र सम्मान की ध्वज पताका संभाल सकें, विश्व शांति में योगदान दे सकें तथा पर्यावरण संरक्षण को अपनी व्यक्तिगत, नैतिक एवं धार्मिक जिम्मेदारी मानते हुये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मानव मात्र के कल्याण को ध्येय बनते हुए "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को प्रत्येक मानव के हृदय में दीप की तरह प्रज्ज्वलित कर सकें।

शिक्षक छात्रों में मूल्यों को विकसित करने में तभी सफल हो सकते हैं, जब शिक्षक स्वयं मूल्य-आधारित आचरण को अपनायें तथा अपनी कथनी और करनी में भेद न आने दें। क्योंकि छात्र शिक्षक की बातों से कम अनुकरण से ज्यादा सीखते हैं। इसलिए यह अनिवार्य है कि शिक्षक स्वयं को छात्रों के सम्मुख एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करें और तदनुसार छात्रों में मूल्यों का विकास कर समाज, राष्ट्र तथा विश्व को एक नई दिशा प्रदान कर अपनी भूमिका की सार्थकता को सिद्ध करने का प्रयास करें।

शिक्षक द्वारा छात्रों में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् तथा अन्य महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक मानव मूल्यों के विकास हेतु मनसा, वाचा, कर्मणा उपरोक्त मूल्यों का अंगीकरण आवश्यक है। केवल तभी वह छात्रों के सम्मुख एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। साथ ही कविता, कहानी, प्रेरक प्रसंगों की सहायता से, विभिन्न धर्मों के धार्मिक प्रसंगों को सुनाकर, विद्यालय तथा कक्षा में मूल्य संबंधी निबंध लेखन, कविता पाठ आदि पाठ्य सहगामी क्रियाओं के आयोजन से भी शिक्षक द्वारा छात्रों को मूल्यों से परिचित करवाया जाना संभव है।

विश्व परिदृश्य में भारतीय समाज हिंसा से अछूता नहीं है। आपसी घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, विषाद, असंतोष, उन्मुक्त आचरण जैसी बुराइयाँ विद्यार्थियों के कोमल मन पर कुप्रभाव छोड़ने में सफल हो रही है। भारतीय विद्यार्थियों में विद्यालय हिंसा आम हो गई है। हिंसा के सम्प्रत्यय को भारतीय विद्यालयों से समाप्त करने हेतु अहिंसा के भाव का विकास अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

अहिंसा अपने आप में अत्यन्त व्यापक सम्प्रत्यय है। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म में अहिंसा की विशद व्याख्या की गई है। आधुनिक काल में गांधी जी ने अहिंसा को स्वतन्त्रता आन्दोलन में एक अमोघ अस्त्र के रूप में प्रयोग कर दुनियाँ को इसकी असीमित शक्ति से परिचित करवाया था। गांधी जी के शब्दों में “किसी को मनसा, वाचा, कर्मणा कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है” इस मूल्य का शिक्षकों द्वारा वरण तथा छात्रों में इसका विकास असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसलिए शिक्षक इसके सरलीकृत रूप “हिंसा न करना” को स्वयं भी आसानी से अपना सकते हैं और इसका विकास छात्रों में भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रों को विभिन्न धर्मों के अहिंसा संबंधी तत्त्वों का ज्ञान देकर महावीर स्वामी एवं भगवान बुद्ध के जीवन चरित्र से संबंधित घटनाओं को सुनाकर तथा विश्व पटल पर अन्य सामयिक अहिंसक आन्दोलन तथा संबंधित व्यक्तियों के कार्यों से परिचित करवा कर उक्त मूल्य का विकास आसानी से किया जा सकता है।

मानव-प्रेम को मूल्य के रूप में विकसित करने के लिए शिक्षकों को स्वयं अपने प्रेम से छात्रों को सराबोर कर उन्हें वैश्विक प्रेम (Universal Love) की प्रेरणा देना आवश्यक है। विभिन्न दर्शनों तथा धर्मों में भी मानव मात्र की प्रति प्रेम की पुष्टि की गई है, शिक्षक द्वारा अपने आचरण में त्याग, निष्कामता,

बलिदान, न्याय आदि गुणों के स्थान देने से उक्त मूल्य का विकास विद्यार्थियों में भी संभव है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के क्रान्तिकारियों, पन्ना धाय की कहानी तथा इसी तरह की अन्य घटनाओं तथा कहानियों के माध्यम से मानव प्रेम, राष्ट्रप्रेम तथा अंततोगत्वा विश्वप्रेम संबंधी मूल्य का विकास किया जा सकता है।

हमारे देश की संवैधानिक व्यवस्था में संसदीय लोकतंत्र को अपनाया गया है जिससे देश के राजनैतिक नीति निर्धारण में जनता की सक्रिय भागीदारी उनके द्वारा निर्वाचित सदस्यों के माध्यम से व्यक्त हो सके। लेकिन हमारे देश की संसदीय व्यवस्था अपने शैशव काल में ही अनेक विकृतियों का शिकार बन, अपने मूल उद्देश्य से भटकती जा रही है इसके पीछे मूल कारण जनता तथा राजनेताओं में लोकतांत्रिक मूल्यों का अभाव है।

प्लेटो ने अपनी पुस्तक, रिपब्लिक (Republic) जिसमें आदर्श राज्य की कल्पना की है, में लिखा है कि “यदि राज्य की समस्याओं का अन्त करना है तो दार्शनिकों को राजा बनाना होगा या राजाओं को दार्शनिक बनना होगा”। जनतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति सत्ता में भागीदार का अनुभव करता है, प्रत्येक व्यक्ति का मत सरकार के गठन को प्रभावित करता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक भले न हो, लेकिन वह अपने राजनैतिक कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक अवश्य हो। यह तभी संभव हो सकता है जब देश के प्रत्येक नागरिक में लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास हो। यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश की राज व्यवस्था में लोक तंत्र की जड़े मजबूत बनें तो देश के भावी नागरिकों में बचपन से ही लोकतांत्रिक गुणों को विकसित करना होगा और इस कार्य में हमारे शिक्षक वर्ग की महती भूमिका है।

असतो मा सद गमय

पद्म जंग

मानव जीवन एक प्रवाहमयी नदी के रूप में है। नदी का मीठा और स्वच्छ जल जिस प्रकार अपनी पूरी यात्रा में लोगों की प्यास बुझाता है, लोक मंगलकारी होता है, इसी प्रकार एक मूल्य-निष्ठ सदाचारी मनुष्य अपने जीवन प्रवाह में लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत हो कर कार्य करता है, स्वयं एवं समाज के लिये सुखकारी होता है। इसके ठीक विपरीत प्रदूषण युक्त गंदा जल जिस प्रकार दुर्गंध एवं बीमारी फैलाने का कार्य करता है, उसी प्रकार बुराई एवं कुटिलताओं से युक्त मानव जीवन, अपराध, हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियों से समाज को बीमार कर देता है।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि उपचार से दुर्गन्ध-युक्त नाले के जल का परिष्कार भी संभव है। इसी प्रकार हमारे जीवन रूपी नदी में यदि कुछ बुराइयों का प्रदूषण है तो समुचित उपचार से उसका परिष्कार भी अवश्य ही संभव है। डाकू अंगुलिमाल जैसे तमाम उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि घोर तम में डूबे व्यक्ति का जीवन में भी प्रकाशवान होने की संभावना विद्यमान है।

जीवन-मूल्य वही छन्ना है, जिससे गुजर कर हमारा जीवन परिष्कृत होता है। जो हमारे जीवन के आने वाली बुराई रूपी प्रदूषण को छान कर अलग कर देता है। परन्तु जहां नदी के जल को बाहरी प्रयासों से स्वच्छ बनाया जा सकता है वहीं मानव जीवन रूपी नदी की सफाई का काम मात्र बाहरी प्रयासों से संभव नहीं है। बाहरी प्रयास हमें प्रेरित कर सकते हैं, उपकरण आदि के रूप में सहायक हो सकते हैं, परन्तु जीवन रूपी नदी का परिशोधन हमें अपने जीवन में स्वयं ही मूल्य निष्ठ आचरण रूपी प्रयासों से करना होता है। साथ ही

साथ मूल्य अथवा नीति हमें वह युक्ति, टैक्नीक प्रदान करते हैं, जिससे परिष्कार की प्रक्रिया सतत रूप से चलती रहे। जीवन-मूल्यों का उपयोग हमारे जीवन में मात्र नकारात्मक को हटाने मात्र के लिए नहीं है, बल्कि हम कह सकते हैं कि कोई भी युक्ति, विचार ऐसा कोई भी प्रयास जो हमारे जीवन का परिष्कार करने के साथ-साथ उसे प्रकाशित करे, आलोकित करें, नित नई ऊँचाइयों की तरफ अग्रसर करें तथा वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में हमारे और हमारे समाज के लिये सुखकर हो, वहीं हमारे लिए जीवन-मूल्य है।

मूल्य-निष्ठ आचरण-युक्त जीवन जीने की संकल्पना एवं प्रयासों के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों, सामाजिक मापदण्डों में बदलाव, पाश्चात्य भौतिकतावाद के प्रति बढ़ता आग्रह, जनसंख्या दबाव के कारण सीमित संसाधनों की छीना-झपटी, मंदिर में भगवान के सामने पावभर लड्डू चढ़ा कर इच्छाओं की लम्बी चौड़ी लिस्ट पकड़ा देने वाली, न्यूनतम प्रयासों से अधिकतम पा लेने की मानवीय प्रवृत्ति, मानव जीवन की सीमायें और अपूर्णतायें, मानव मन की दमित इच्छायें, तमाम तर्क-कुतर्क, परस्पर विरोधी विचारधाराओं का बवन्डर हमें भ्रमित और दुविधाग्रस्त कर देता है। विचारों के इस भँवर में सही गलत, अच्छा-बुरा, व्यवहारिकता-अव्यवहारिकता आदि की कसौटी पर कई प्रश्न हमारे मन में स्वाभाविक रूप से उठते हैं।

इसी क्रम में एक प्रश्न यह उठता है कि मूल्य निष्ठ जीवन जी कर अच्छा बनने से हमें क्या लाभ है? हम अच्छा क्यों बनें? खासकर ऐसे काल में जब लुटेरे, माफिया माननीय और पूज्यनीय हो जायें और मूल्य-निष्ठ व सदाचारी पुरुष व्यंग्य और

उपेक्षा का पात्र हो, यह प्रश्न और अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

इस प्रश्न का उत्तर तलाश करने के लिए हमें मानव की मूलभूत आवश्यकता इच्छा जाननी होगी। सुखी होना मानव की मूलभूत इच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सुखी होना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति के सुख प्राप्त करने के अलग-अलग साधन हैं। कोई भरपेट अच्छा भोजन करके सुखी महसूस करता है तो कोई शराब पी कर, किसी को परोपकार में सुख मिलता है तो कोई धन इकट्ठा कर सुख पाता है। कोई खेल में सुख तलाशता है तो कोई दार्शनिक चिंतन में सुख पाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने मन की इच्छाओं की पूर्ति और इच्छाओं के भोग में सुख का अनुभव करता है। मन के अनुकूल हो रही घटनायें हमें सुख का एवं प्रतिकूल घटनायें दुख का अनुभव कराती हैं।

मानव जीवन में चिर-स्थायी सुख की प्राप्ति कैसे संभव है? प्रकृति के कुछ सिद्धांतों व मनीषियों द्वारा दिये जीवन सूत्रों का विश्लेषण कर हम इस प्रश्न का उत्तर खोज सकते हैं। इसी प्रकार का एक सूत्र है कि “जो बोओगे, वही काटोगे”, “बोया पेड़ बबूल का तो आम कहां से होय” प्रकृति के इस सिद्धान्त की अकाट्यता को हम अपने आस-पास गहराई से महसूस कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुराई का अंतिम परिणाम अच्छाई नहीं हो सकता। यदि हम अपने जीवन में सुख चाहते हैं, शुभ चाहते हैं तो मनसा, वाचा, कर्मणा हमें शुभ को ही अंगीकार करना पड़ेगा। शुभ का अवलम्बन ही हमारे जीवन में और हमारे चारों ओर शुभ का फूल खिलायेगा। बुराईयाँ, अशुभ अपने किसी पूर्व अथवा अपरोक्ष प्रभाव के कारण सुखकर लगें परन्तु अन्ततः उसका परिणाम दुख भोग के रूप में ही होगा। इस सिद्धान्त का गहन विश्लेषण करने एवं जीवन

के दिन-प्रतिदिन के अनुभवों से हम पायेंगे कि सुख प्राप्त करना मानव की प्राथमिक व मूलभूत इच्छा है और इस इच्छा की पूर्ति का सबसे सहज और सरल उपाय स्वयं का अच्छा होना है। अच्छा होना एक चश्मा है, एक जीवन दृष्टि है जिसको अंगीकार कर हम प्रकृति में शुभ का आह्वान करते हैं, शुभ का भोग करते हैं, शुभ का अनुभव करते हैं और आनन्द लेते हैं। घाटी की यात्रा, ढलान की यात्रा अवश्य सरल है तथा ऊँचाईयों की चढ़ाई में संघर्ष भी है और कठिनाइयाँ भी। यदि हम घाटी के सौंदर्य का अवलोकन कर के मुग्ध हो जायेंगे तो आगे आने वाले अप्रतिम सुख का भोग कैसे कर पायेंगे। फूलों की घाटी, गंगोत्री और मानसरोवर के अप्रतिम सौंदर्य का दर्शन करने के लिए पहाड़ की चढ़ाई के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को सहने की संकल्पशक्ति तो होनी ही चाहिये। मूल्यनिष्ठ जीवन में यदि कुछ संघर्ष भी है तो यह संघर्ष हमें उच्चतर सुखों की अनुभूति की ओर ले जाता है।

“हमारा अच्छा होना, मूल्यनिष्ठ होना सुखकर है” यदि प्रकृति में यह सीधा-सपाट सत्य प्रतिबिंबित हो रहा होता तो संभवतः किसी व्यक्ति को इस सिद्धान्त के अवलम्बन में आपत्ति न होती। परन्तु व्यवहार में हम इस सिद्धान्त में तमाम विरोधाभास देखते हैं। मूल्यविहीन जीवन जीने वाले गलत राह पर चलने वाले, खराब प्रवृत्ति के लोग समाज में सुख, धन, समृद्धि, पद मान प्रतिष्ठा पाते हुये दिखते हैं जबकि इसके विपरीत मूल्यनिष्ठ जीवन जीने वाले अच्छे लोग समाज में संघर्ष करते हुये विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ झेलते हुये दिखते हैं। जिसे देख कर एक आम आदमी के मन में यह धारणा बलवती होती है कि अच्छा होना, सज्जन होना, मूल्यनिष्ठ होना अत्यन्त कठिन व दुर्गम मार्ग हैं, इस मार्ग से प्रत्यक्ष अथवा भौतिक सुखों को प्राप्त करना संभव नहीं है। भौतिकता के प्रति खिचाव, संकल्प

शक्ति की कमी एवं दूरदृष्टि के अभाव में आम आदमी इसके प्रतिकूल आचरण करने लगता है।

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें पुनः प्रकृति के सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ेगा तथा तार्किक विश्लेषण द्वारा सत्य का अवगाहन करना होगा। हमारे देश की जीवन पद्धति में “कार्य के सिद्धान्त” का प्रमुख स्थान है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रंथों, मानस कबीर ग्रन्थावली आदि सभी ग्रंथों में कर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुये कर्म फल के भोग को अवश्यंभावी बताया है। मानस में तुलसीदास जी ने जहां कहा है कि—

“कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहिं सो तासु फल चाखा।”
वहीं कबीर वाणी में कहा गया है कि—

“करम गति टारे नाहि टरी
मुनिवसिष्ठ सम पंडित ज्ञानी,
सोध के लगन धरी।

सीता हरन मान दसरथ को,
वन में विपत्त परी।।”

करम गति.....

मनुष्य ही नहीं बल्कि अवतार पुरुष भी धरती पर जन्म लेने के बाद कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो सके और कर्म फल का भोग उनको करना पड़ा। कर्म के इसी सिद्धान्त में हम प्रकृति के विरोधाभासों का हल ढूढ़ सकते हैं।

प्रकृति ने अच्छे कार्यों को परिणाम में अच्छे फल एवं बुरे कर्मों के परिणामतः बुरे फल के भोग का नियम तो निश्चित कर दिया। परन्तु किस कर्मफल का भोग हमें कब मिलेगा। यह निश्चित न होने के कारण व्यवहार में भ्रम की स्थिति दिखती है।

अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि वर्तमान दुष्कर्मों के बावजूद प्रकृति अपने नियम को तोड़कर किसी व्यक्ति को सुख, समृद्धि

व मान-सम्मान प्रदान कर रही है यदि ऐसा दिख रहा है तो यह निश्चित ही उसके प्रारब्ध के शुभ कर्मों का प्रतिफल है। यदि उसके द्वारा किये जा रहे बुरे कर्म वर्तमान में फलित नहीं हो रहे हैं तो वह संचित अवश्य हो रहे हैं, काल चक्र के साथ-साथ वह अपना फल अवश्य दिखायेंगे। अपने जीवन के अनुभवों की गहराई में मैंने यह महसूस किया है कि प्रकृति की व्यवस्था और वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था एक जैसी है। बैंक के बचत खाते की तरह प्रकृति ने भी हमारे शुभ कर्मों का खाता खोल रखा है। सुख विषयक हमारे सभी इच्छाओं की पूर्ति व इसी खाते से करती है। जिस प्रकार बैंक में हम अपना चेक कैश कराने जाते हैं तो यदि हमारे खाते में समुचित धन है तो बैंक हमारे चेक को आनर देता है और हमारे खाते से धन खारिज का कैश हमें देता है, यदि खाते में समुचित धन नहीं है तो चेक को डिस्आनर कर दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि हमारे शुभ कार्यों के खाते में शुभ कर्म जमा है तो प्रकृति हमारी इच्छा रूपी चेक को आनर देते हुये हमारी इच्छा पूरी कर देती है और हमारे शुभ कर्मों के खाते को समुचित मात्रा में खारिज कर देती है। परन्तु यदि हमारी इच्छा बहुत बड़ी है अर्थात् चेक की धनराशी अधिक है और खाते में धन कम है तो चेक डिस्आनर हो जाता है अर्थात् इच्छा पूरी नहीं हो पाती है।

इस सिद्धान्त की विवेचना करने पर हम यह पायेंगे कि प्रकृति एक बहुत ही ईमानदार बैंकर हैं, वह कभी भी किसी व्यक्ति को किसी दूसरे के खाते का सुख प्रदान नहीं करती है। संसार में यदि कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार का सुखभोग कर रहा है तो वह अपने ही शुभ कार्यों के खाते के सापेक्ष कर रहा है और उसके सुख भोग के परिणाम स्वरूप उसका खाता क्षरित अवश्य हो रहा है। अतः कोई व्यक्ति अपने जमा धन का अपव्यय करे, उसे

अनाप-शनाप खर्च करें तथा और कमाई न करे तो जमा जमा धन कितने समय तक उसका साथ देगा। हमारा अच्छा होना और मूल्यनिष्ठ जीवन हमारे शुभ कार्यों के खाते को बनाये रखने व बढ़ाने की युक्ति है।

ठीक इसी प्रकार बैंक के ऋण खाते की तरह प्रकृति हमारे अशुभ कार्यों का खाता भी रखती है। जिस प्रकार ऋण खाते में प्रति माह ऋण के किश्तों का भुगतान करना पड़ता है न करने की स्थिति में मुकदमेंबाजी, नालिश, कुर्की, नीलामी के रूप में भुगतान करना पड़ता है, ठीक उसी तरह अशुभकार्यों के परिणाम स्वरूप, बीमारी, निर्धनता, दुर्घटना, प्रतिष्ठाहानन आदि के रूप में दुख भोग अनिवार्य है। जब तक हम दुख भोग के रूप में उसका भुगतान नहीं करेंगे तब तक हमारा ऋणखाता अथवा अशुभ कर्मों का खाता समाप्त नहीं होगा।

व्यवहारिक जगत में अशुभ कर्मों का अवलम्बन करने वाले व्यक्ति को सुख समृद्धि एवं सम्मान का जीवन जीते देख कर उठने वाले भ्रम का निवारण हम प्रकृति के इस कार्य के सिद्धान्त पर चिन्तन कर के कर सकते हैं। ऐसा व्यक्ति एक तरफ जहां अशुभ कर्मों में संलग्न रह कर अपने अशुभकर्मों के खाते में वृद्धि करता जा रहा है। वहीं शुभ कर्मों में रत न होने के कारण शुभ कर्मों के खाते में कोई वृद्धि नहीं हो रही है। अपितु निरंतर सुख भोग के परिणाम स्वरूप उसके शुभ कर्मों का खाता रिक्त होता जा रहा है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि यदि हम सुखी होने की प्राथमिक व मूलभूत इच्छा को चिरस्थायी बनाना चाहते हैं, दूरगामी दृष्टि से एवं वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में अपने जीवन में सुख का अवतरण चाहते हैं, तो हमारे सामने अच्छा बनना और मूल्यनिष्ठ जीवन जीना ही एक मात्र विकल्प है।

यही वह युक्ति है जिसे आचरण सिद्ध कर हम अपने जीवन में शुभ का आह्वान कर सकते हैं, शुभ का स्पर्श कर सकते हैं असत् से सत् की ओर जा सकते हैं और अनन्त की ऊंचाइयों को स्पर्श कर सकते हैं।●

पृष्ठ 31 का शेष भाग

भारतीय संविधान में स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, न्याय और समाजवाद को मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। छात्रों में लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास हेतु शिक्षकों को स्वयं इन मूल्यों का अनुपालन कक्षा में करना आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान युग में लोकतंत्र सिद्धान्त नहीं वरन् 'जीवन शैली' का रूप ले चुका है। हमारे शिक्षक छात्रों में इन मूल्यों का विकास विद्यालय में आसानी से कर सकते हैं क्योंकि विद्यालय समाज का लघु रूप (Minisociety) है। शिक्षक द्वारा अपनी शिक्षण विधियों को लोकतांत्रिक बनाकर, छात्रों को शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में भागीदार बनाकर, सभी के साथ विकास समता का व्यवहार कर छात्रों में आपस में भाईचारे की भावना का विकास कर, कक्षा के वातावरण को लोकतांत्रिक बनाकर, न्याय पूर्ण ढंग से समस्याओं का समाधान कर लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास किया जा सकता है। इसके साथ ही छात्रों को उनके सामाजिक, राजनैतिक अधिकारों तथा कर्तव्यों, तथा राजनैतिक निर्णय प्रक्रिया का ज्ञान देकर उन्हें जागरूक नागरिक के रूप में विकसित किया जा सकता है।

यदि शिक्षक उपरोक्त वर्णित मूल्यों का विकास छात्रों में करने में सफल हो जाते हैं तो निश्चित रूप से ही, जैसा कि कोठरी कमीशन ने कहा है, "भारत के भविष्य का निर्माण उसके विद्यालयों में हो रहा है" सार्थक हो सकता है।●

पॉल। फ़र एव शाक्षक मूल्य

डॉ. शैलेन्द्र कुमार वर्मा*
श्रीमती नन्दा द्विवेदी**

शिक्षा जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र है। भारत में शिक्षा और ज्ञान के महत्त्व को प्राचीन काल से ही समझा गया है। वैदिक ऋषियों ने अविद्या को मृत्यु तुल्य माना है; और ज्ञान को जीवन। 'ज्ञानम् तृतीयं मनुजस्य नेत्रम्' द्वारा इसे 'तृतीय नेत्र' की संज्ञा दी गयी है जिसके द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को सर्वांगीण रूप से देखा जा सकता है। यह बाहर से भीतर को भरने की प्रक्रिया मात्र नहीं है, अपितु आंतरिक और बाह्य स्थितियों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य अपने आंतरिक और बाह्य परिवेशों में सामंजस्य स्थापित करना सीखता है। शिक्षा ही व्यक्ति में आत्मिक ऊर्जा का संचय करती है। इसी के माध्यम से ज्ञान-पिपासा के साथ विचार, संस्कार एवं संयम का आविर्भाव होता है। यह व्यक्ति के जीवन को तार्किक बनाती है। यह वह दर्पण है जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं के प्रतिबिम्ब को देखता है। स्वामी विवेकानंद जी ने शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'मेरे विचार से जनसाधारण की अवहेलना महान राष्ट्रीय पाप है; और हमारे पतन के कारणों में से एक है। सब राजनीति उस समय तक विफल रहेगी जब तक कि भारत में जनसाधारण को एक बार भली-प्रकार से शिक्षित नहीं कर लिया जायेगा।'

भारतीय शिक्षा व्यवस्था को पुष्पित और पल्लवित करने में प्रख्यात शिक्षाशास्त्री पॉलो रिगेलस नेवेस फ़रे के शैक्षिक दर्शन एवं मूल्यों का वर्तमान समय में महत्त्व है जिनको आत्मसात् करने से भारतीय शिक्षा व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन आ सकता है।

जीवन परिचय :

पॉलो रिगेलस नेवेस फ़रे का जन्म 19 सितम्बर 1921 में दक्षिण अमेरिकी देश ब्राजील के 'रेसिफे' नामक नगर में हुआ था। जब 1929 में विश्व में आर्थिक मंदी की शुरुआत हुयी, तब आर्थिक तंगी के कारण उनका परिवार 'रेसिफे' नगर छोड़कर 'जोबाटाओं' (ग्रामीण क्षेत्र) में बस गया। यहीं पर फ़रे का बचपन बीता। बचपन में फ़रे ने सामंतवादी, पूँजीवादी, साम्राज्यवादी, नस्लवादी और फासीवादी उत्पीड़नों का अलग-अलग तरीके से सामना किया। अपनी दस वर्ष की अवस्था को फ़रे ने 'कनेक्टिव ब्वाय' की संज्ञा देते हुए लिखा है कि— 'मेरे ऐसे भी दोस्त थे जो मुझसे कम खाते थे और मुझसे ज्यादा फटे पुराने कपड़े पहनते थे। मेरे ऐसे भी दोस्त थे जो मुझसे ज्यादा खाते थे और बेहतर कपड़े पहनते थे। इन दोनों परिस्थितियों को देखने का मुझ पर गहरा असर पड़ा। मुझे लगा कि मेरे समाज में ही कोई न कोई बुनियादी गड़बड़ी है।..... मेरी माँ ने मुझे सिखाया था कि ईश्वर बहुत अच्छा है; इस लिये मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि जो वर्गभेद है; उसके लिए न ईश्वर को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है; और न नियति को। हाँलाकि इसका कोई संतोषजनक कारण मैं नहीं बता सकता। 11 वर्ष की आयु में मैंने यह शपथ ली कि दुनिया से भूख को कम करने के लिए हर संभव प्रयास करूँगा।' (उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र पुस्तक से साभार)

उस समय ब्राजील में चल रहे क्रांतिकारी जन-आंदोलनों से प्रभावित होकर फ़रे भी स्वाधीनता और समाजवाद का स्वप्न देखने लगे तथा अल्पतंत्र एवं साम्राज्यवाद के विरोधी हुए, जिसके परिणामस्वरूप

* असिसटेन्ट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

** शोध छात्रा, शिक्षा शास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

ब्राजील के सैनिक शासकों ने उन्हें 1964 में 20 वर्षों के लिए देश निकाला दे दिया। इस समय में उन्होंने सेण्टियागो (1964-69) कैम्ब्रिज, मास्चेस्ट्स (1989-70) स्विटजरलैण्ड (1970-79) में रहकर शिक्षक एवं समाजसेवक के रूप में कार्य किया और साथ ही 'वर्ल्ड कौंसिल ऑफ चर्चज' के सदस्य के रूप में विभिन्न देशों की अनेक यात्रायें की। 16 वर्ष के बाद 1980 में पुनः ब्राजील वापस आये तथा 1988 में शिक्षा मंत्री का पद स्वीकार किया। सन् 1999 में 78 वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया।

फ्रेरे का शिक्षा दर्शन :

फ्रेरे के शिक्षा दर्शन में अध्यात्मवाद, अस्तित्ववाद, साम्यवाद, ऐतिहासिक हेगलीयद्वन्द और दृश्य प्रपंचशास्त्र (फेनोमिनोलॉजी) का समावेश है। सभी प्राणियों में प्रेम भावना एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के प्रति आकृष्ट होने में, वह ईसामसीह के विचारों से प्रभावित हुए। उनका कहना था कि 'मुझे ईसामसीह के उस आक्रोश को समझने में मदद मिली, जिसके साथ उन्होंने कर वसूलने वालों को गिरजाघर से बाहर निकाल दिया था' (उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृष्ठ 12)। फ्रेरे का बुद्धिजीवी मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट होना ही उनके जीवन की नयी दिशा थी। 'मैं अपना निर्माता स्वयं हूँ जैसे वक्तव्यों की उन्होंने आलोचना की और यह स्पष्ट किया कि "शहर के जिन कोनों में तथाकथित स्वनिर्मित लोग रहते हैं, वहाँ बहुत से अनाम व्यक्ति भी निरक्षरता के कारण दयनीय दशा में समाज की उत्पीड़क व्यवस्था में छिपे हैं, इसके लिए 'चुप्पी की संस्कृति' को तोड़ना होगा।"

फ्रेरे उत्पीड़न की स्थिति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'कोई भी स्थिति, जिसमें 'क' वस्तुपरक रूप से 'ख' का शोषण करता है या उसकी आत्म-अभिपुष्टि (सेल्फ-अफर्मेशन) में जानबूझ कर बाधा पहुँचाता है, उत्पीड़न की स्थिति है। इस स्थिति में हिंसा स्वतः ही अंतर्निहित रहती है, भले ही उस मिथ्या उदारता से मधुर बनाया जाता हो; क्योंकि यह

स्थिति मनुष्य बनने के सत्तामूलक और ऐतिहासिक कर्तव्य में बाधा उत्पन्न करती है। उत्पीड़न का सम्बंध स्थापित होते ही हिंसा आरंभ हो चुकी होती है।हिंसा का आरम्भ वे करते हैं, जो उत्पीड़न करते हैं, शोषण करते हैं, जो दूसरों को मनुष्य नहीं मानते। इसका आरम्भ वे नहीं करते जो उत्पीड़ित हैं; शोषित हैं; जिन्हें मनुष्य नहीं माना जाता। मनमुटाव वे नहीं फैलाते जो प्रेम से वंचित हैं; बल्कि वे फैलाते हैं, जो प्रेम नहीं कर सकते क्योंकि वे स्वयं से प्रेम करते हैं।..... बल प्रयोग वे नहीं करते, जो बलशालियों की प्रबलता के अधीन निर्बल बना दिये गये हैं; बल प्रयोग उन्हें निर्बल बनाने वाले बलशाली करते हैं (उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृष्ठ 36)।

फ्रेरे ने अपने निर्वासन काल में लिखी पुस्तक 'पेडागॉजी ऑफ दि अप्रेसड' (उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र 1970) में चिली, क्यूबा, निकारगुआ, पुर्तगाल आदि देशों में साक्षरता कार्यक्रमों के दौरान श्रमिकों एवं मध्यवर्गीय लोगों की प्रतिक्रियाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवलोकन करने के उपरान्त शिक्षा के विषय में कहा कि "इस शिक्षा शास्त्र का निर्माण उत्पीड़ितों की (चाहे वे व्यक्ति हों या समूचे जनगण) के लिए नहीं बल्कि उनके साथ और उनकी मनुष्यता की पुनर्प्राप्ति के लिए जारी अनवरत संघर्ष में किया जाना आवश्यक है। यह विचार करने की वस्तु बनाता है और उस विचार के जरिये अपनी मुक्ति के लिए किए जाने वाले संघर्ष में उनकी आवश्यक समानता को संभव बनाता है और इसी संघर्ष में यह शिक्षा शास्त्र निर्मित और पुनर्निर्मित होगा।"

फ्रेरे का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण बहुत व्यापक एवं सर्वांगीण है। वे शिक्षा की परम्परागत बैक्य अवधारणा का विरोध करते हुए शिक्षा की समस्या-उठाऊ व्यवस्था का समर्थन करते हैं जिसमें विद्यार्थी केवल पढ़ना-लिखना ही नहीं सीखता बल्कि आलोचनात्मक

मालवीयजी के शैक्षिक विचार और आत्मनिर्भर भारत

अमित कुमार वर्मा

भारतीय पुनर्जागरण के महान चिन्तक, युग द्रष्टा, एशिया महाद्वीप के विशालतम विद्या केन्द्र—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक, महान शिक्षाविद् परमपूज्य मदन मोहन मालवीयजी एक युग महापुरुष थे। वे व्यक्ति को समष्टि का अंग मानते थे और निःस्वार्थ सेवा द्वारा जीवन को समष्टि के लिए आत्मसात करना मानव का पवित्र कर्तव्य समझते थे। उन्होंने देश की आवश्यकताओं, गौरव की वृद्धि के लिए तथा जनता के संतापों और कष्टों को आत्मसात कर उनकी आकांक्षा की पूर्ति में अपना सारा जीवन लगा दिया। आपकी शिक्षा पद्धति का मूलमंत्र था— **‘जीवन का सर्वांगीण विकास’**।

युग चिन्तक पंडित मदन मोहन मालवीयजी के अनुसार हमारी समस्याओं की जड़ अज्ञानता है। किसी भी सभ्य एवं समुन्नत समाज की बुनियाद उसकी शिक्षा है। इसके अभाव में विवेकहीनता तथा विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उनका मानना था कि बिना शिक्षा तथा उचित धर्म प्रचार के, देश की न तो भौतिक उन्नति हो सकती है और न ही आध्यात्मिक। मूलतः मालवीय जी की शिक्षा सम्बन्धी परिकल्पना बहुत विस्तृत थी। उनके विचार से शिक्षा सभी उन्नति का मूल है। इसलिए उन्होंने शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से मानवता का विकास करने का प्रयत्न किया। शिक्षा की समस्या को वे सम्पूर्ण मानव की समस्या मानते थे। शिक्षा के माध्यम से शिक्षक मानवता को अपेक्षित स्वरूप प्रदान करता है। एकता, शांति और सद्भावना फैलाने के लिए शिक्षा ही एक सशक्त माध्यम है। वे शिक्षा के माध्यम से भारत में ऐसे व्यक्तियों के निर्माण के पक्षपाती थे, जो चरित्रवान होने के साथ

—साथ आर्थिक, प्राविधिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण हों। इस योग्य हों कि अपनी जीविका प्राप्त करने में समर्थ हों। वे शिक्षा—व्यवस्था के व्यावहारिक तथा आजीविकोपार्जन परक आधुनिकतम शिक्षा के पक्षधर थे। वे भारतीय आदर्शों के पृष्ठपोषक होते हुए भी आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति की कभी अवहेलना नहीं करते थे। वे अपने स्थापित किये हुए विश्वविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विभिन्न ज्ञान विज्ञानों के आधुनिकतम विकास के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहते थे। वे शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने पुनर्जागरण की ज्योति जलाना चाहते थे और यह भी इसलिये कि समस्त विश्व के कल्याण में भारत अपना उचित योगदान दे सके। मालवीयजी के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं का समुचित विकास करना था, ताकि वह अपने कार्य क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य करते हुए देश व समाज की प्रगति में भाग ले सके। वह देश व समाज में व्याप्त पराधीनता, बेकारी, शोषण, गरीबी, अन्धविश्वास आदि बुराईयों को दूर करने में तन—मन—धन से सहयोग कर सके और इस प्रकार के कार्यों से अपना और अपने देशवासियों का जीवन सुखी और समृद्ध बना सके। उनके विचार से विद्यालय का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिये, जो मनुष्यों के भीतर से घृणा और द्वेष मिटा सके। वे संसार के सभी ज्ञान को इसलिए एकत्र करना चाहते थे कि जिससे मानवता का कल्याण हो सके।

मालवीयजी नैतिक शिक्षा को बहुत प्रश्रय देते थे। वे विद्यार्थियों के लिए इसे आवश्यक गुण मानते थे। उनका विचार था कि समाज के सभी व्यक्ति आचारवान तथा विचारवान हों। वे कर्तव्य

पालन में सावधान रहें, और धर्म की रक्षा करें। वे विद्यार्थियों में चरित्र-गठन को शिक्षा का प्राथमिक लक्ष्य मानते थे। सज्जनताविहीन ज्ञान पूर्णतः निरर्थक है। जीवनोत्कर्ष एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिए चरित्र-गठन बौद्धिक एवं व्यावसायिक विकास से कहीं अधिक आवश्यक है। वे कहते थे— पारस्परिक सद्भाव व सहयोग के बिना व्यावसायिक उन्नति हो ही नहीं सकती। आचरण की शुद्धि, पुष्टि और परिपक्वता हेतु वे धर्म, नागरिकता तथा नैतिकता की शिक्षा आवश्यक समझते थे। आपने मानवीय मूल्यों में सर्वोत्तम मूल्य— 'चरित्र बल' को माना। जीवन की सफलता के मूल मंत्र का उद्देश्य विद्यार्थियों को समझाते हुए आपने कहा था— 'चरित्र में अजेय बनी (Be morally invincible)'

मालवीयजी विद्यार्थियों की स्वास्थ्य रक्षा पर अधिक बल देते थे। वे स्वास्थ्य रक्षा हितार्थ कसरत तथा व्यायाम आवश्यक मानते थे। मालवीयजी ने कहा था कि यह शरीर परमात्मा का मंदिर है। इस मंदिर का रक्षक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है, जिसके द्वारा हम संसार को जीत सकते हैं। वे विद्यार्थियों से कहते थे कि पढ़ते समय सारी दुनिया एक ओर रख दो और पुस्तकों में, लेखक की विचारधारा में डूब जाओ। यही तुम्हारी समाधि है, यही तुम्हारी उपासना है और यही तुम्हारी पूजा है।

मालवीयजी स्त्री शिक्षा का समुचित प्रबन्ध समाज का पुनीत कर्तव्य समझते थे। वे पुरुषों की तुलना में स्त्री की शिक्षा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे, क्योंकि स्त्रियाँ ही भारत की भावी-संतानों की माताएँ तथा भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्त्वज्ञानियों व कला-कौशल के विद्वतजनों की प्रथम शिक्षिकाएँ होती हैं। स्त्रियों की शिक्षा हेतु ऐसा राष्ट्रीय कार्यक्रम हो कि उनमें प्राचीन एवं नवीन सभ्यताओं के सभी गुणों का समन्वय हो। वे

मानते थे कि भारतीय स्त्री, पुरुषों के हाथों का खिलौना न होकर स्वावलंबी तथा अपनी रक्षा स्वयं करने वाली हो। उनके अनुसार आदर्श नारी सिर्फ घर की शोभा नहीं, बल्कि कर्म तथा धर्म क्षेत्र में भी स्वावलंबी होती है। इस प्रकार मालवीयजी पर्दा प्रथा के विरोधी तथा स्त्रियों के धर्म के हिमायती थे। उन्होंने कहा था कि जब तक स्त्री शिक्षा का प्रचार और प्रसार नहीं होगा, तब तक हमारी उन्नति सम्भव नहीं है।

मालवीयजी राष्ट्रीय प्रणाली के आधार पर प्राथमिक व माध्यमिक स्कूलों में सर्वसाधारण के लिए निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा के हिमायती थे। वे शिक्षा को मानव का मूल अधिकार मानते थे। उसका समुचित प्रबन्ध राज्य का कर्तव्य समझते थे। सभी स्तर पर शिक्षा का प्रबन्ध ऐसा हो कि कोई बच्चा निर्धन होने के कारण उससे वंचित न रह जाये। गरीबों की सुख शांति काफी हद तक शिक्षा पर निर्भर करती है। उसी के द्वारा वे विवेक व आत्मसम्मान का स्वभाव प्राप्त कर सर्वगुण सम्पन्न हो सकते हैं।

देश प्रेम की शिक्षा ही राष्ट्र का उद्धार कर सकती है। शिक्षा लोकतांत्रिक, नागरिकता मूलक सिद्धांतों पर आधारित हो। उत्तम चरित्र और व्यवहार लोकतंत्र को स्थायी, सुदृढ़ व जनोपयोगी बना सकते हैं। विकासोन्मुख व्यापक शिक्षा, चरित्र गठन के साथ-साथ स्वस्थ जीवन, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार, ललित कलाओं के प्रति अभिरुचि एवं सुख-सुविधा के भौतिक साधन भी आवश्यक हैं। मालवीयजी धार्मिक शिक्षा को विद्यार्थियों के लिए आवश्यक मानते थे। वे धार्मिक शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों में उन व्यापक एवं उदार भावनाओं को प्रोत्साहित करना चाहते थे, जो मनुष्य के बीच भातृत्व की भावना विकास करें। वे अपने विद्यार्थियों को बताते थे कि शील और देशप्रेम से रहित ज्ञान निरर्थक है।

शिक्षा के माध्यम के बारे में मालवीयजी ने गहराई से सोचा था। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि अंग्रेजी भाषा को सीखने में समय बर्बाद होता है और साथ ही मौलिक सृजनशीलता के लिए यह भाषा उपयुक्त नहीं है। उन्होंने कहा है कि बिजली की रोशनी से रात्रि का कुछ अन्धकार दूर हो सकता है, किन्तु सूर्य का काम बिजली नहीं कर सकती। इसी भाँति हम विदेशी भाषा से सूर्य का प्रकाश नहीं प्राप्त कर सकते। साहित्य और देश की उन्नति अपनी भाषा के द्वारा ही हो सकती है। मालवीयजी के शिक्षा के प्रति विचारों के अध्ययन में हम देखते हैं कि उन्होंने शिक्षा की अपनी आधुनिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की और साहित्य-दर्शन के साथ ही वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी आदि आधुनिक विषयों की विशेष व्यवस्था की जो उनकी शिक्षा में परिवर्तनवादी आधुनिक विचारधारा के परिचायक हैं।

शिक्षा के माध्यम से वह राष्ट्रीय चेतना का एकीकरण और नवनिर्माण करना चाहते थे। उनके स्त्री शिक्षा सम्बन्धी विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह स्त्री शिक्षा के माध्यम से आगामी भावी पीढ़ी की सन्ततियों का इस प्रकार निर्माण चाहते थे, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त हों। वह शिक्षा के माध्यम से ऐसे व्यक्ति के निर्माण के पक्षपाती थे, जो चरित्रवान होने के साथ ही साथ आर्थिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि मालवीयजी की शिक्षा सम्बन्धी विचारधारा समाज की आवश्यकताओं की आपूर्ति के व्यवहारिक पक्ष पर आधारित है। शिक्षा में आमूल परिवर्तन सम्बन्धी महामनाजी के विचार युग की माँग के अनुसार प्रगतिशील और आधुनिक हैं। वे एक महापुरुष, शिक्षाशास्त्री, विचारक एवं अनुकरणीय कर्मयोगी की भाँति सदा सभी के दिलों में 'एक अमिट छाप' के रूप में जीवित रहेंगे। ●

पृष्ठ 37 का शेष भाग

दृष्टि से प्रश्न भी पूछना सीखता है। फ्रेरे मानते हैं कि साक्षरता का कोई अर्थ तभी है जब निरक्षर व्यक्ति दुनिया में अपनी स्थिति, अपने काम और इस दुनिया में बहुत्व लाने की अपनी क्षमता को लेकर सोचने लगे, यही चेतना है। फ्रेरे ऐसी शिक्षा के सर्जक हैं, जो समाज की विकृतियों के प्रति मौन न रहकर प्रतिक्रिया करती है। फ्रेरे के शैक्षिक विचार ने केवल ब्राजील में ही नहीं, अपितु, सम्पूर्ण विश्व में अपनी छाप छोड़ी। स्कूल से बाहर एवं निरक्षरों के बीच उन्हीं की भाषा एवं परिवेश को आधार मानकर जिस शिक्षा प्रणाली का उन्होंने विकास किया, उससे उत्पीड़ितों में आत्म विश्वास का संचार हुआ। फ्रेरे ने निरक्षरों को साक्षर कर उन्हें 'मत का अधिकार' दिलाने का सफल प्रयास किया। उनका मानना था कि शिक्षा का आरंभ शिक्षक-छात्र अन्तर्विरोध का समाधान करते हुये होना चाहिए परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब अन्तर्विरोध के दोनों ध्रुवों को मिला दिया जाय। शिक्षा का ऐसा स्वरूप विकसित हो जिसमें छात्र और शिक्षक के बीच परस्पर संवाद एवं संप्रेषण हों। शिक्षक, एक 'छात्र' और छात्र, एक 'शिक्षक' बनकर एक ऐसे समाज का निर्माण करें जिसमें भय, भूख और भ्रष्टाचार पर अंकुश पाया जा सके। अपने तार्किक विचारों से फ्रेरे ने शिक्षक और छात्र के बीच की दूरी को कम करने का प्रयास किया। उनका उद्देश्य था कि शिक्षा सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक क्रांति का मूल आधार है; अतः यह समाज के सबसे वंचित व्यक्ति तक अवश्य पहुँचनी चाहिए।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि फ्रेरे के शैक्षिक दर्शन और मूल्यों को आत्मसात् कर भारतीय परम्परा के सूक्ति वाक्य 'या विद्या सा विमुक्तये' को पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सकता है जिससे शिक्षक-छात्र सम्बन्धों में मधुरता आ सके तथा छात्रों में आलोचनात्मक बोधशक्ति का विकास हो सके जिससे वे एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकें। ●

प्राचीन भारतीय शिक्षा—वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

डॉ सुषमा जोशी

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वर्तमान की जड़ें अतीत से सम्बद्ध होती हैं। हमारे भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली के लिए नींव का पत्थर साबित हुई है। भारतीय शिक्षा के इतिहास की क्रमिक झलक इस बात को स्पष्ट कर देती है कि वर्तमान भारतीय शिक्षा का इतिहास एक मिश्रित शिक्षा प्रणाली का इतिहास है और इसीलिये आज की शिक्षा में किसी रूप में हमें प्राचीन शिक्षा प्रणाली की झलक देखने को मिलती है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों शिक्षा प्रणालियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय संस्कृति के संवर्धन, संरक्षण एवं उसके गौरवान्वित करने में प्राचीन भारतीय शिक्षा का योगदान अमूल्य है और इन्हीं विशिष्टताओं के कारण यह आज विभिन्न परिस्थितियों से गुजरने के बावजूद भी अपने गौरव व संस्कृति को समेटे हुए है। यद्यपि आज प्राचीन शिक्षा के बहुत से आदर्श लुप्त प्राय हो रहे हैं और पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति अन्धानुकरण में हम अपने प्रमुख आदर्शों, परम्पराओं को विस्मृत करते जा रहे हैं, किन्तु अभी भी भारतीय शिक्षा की आत्मा पूरी तरह से सुप्त नहीं है। आवश्यकता है हमारी उस पैनी दृष्टि की जो प्राचीन भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्वों को पहचान सके और उन्हें वर्तमान शिक्षा में समाविष्ट कर समस्याओं के समाधान में उनका सहयोग लेते हुए वर्तमान शिक्षा प्रणाली को प्रभावी बना सकें। माध्यमिक शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर का भी इस सम्बन्ध में कहना था—

“हमारे युवा भारतीयों को उस विरासत को पहचानने दो जो अपनी है। ईश्वर करें कि युवा

पीढ़ी भारत की वास्तविक आत्मा को पहचाने तथा अपने सभी कार्यों में उसका अनुसरण करें।”

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के स्वरूप पर यदि विधिवत् विचार करें तो बहुत से ऐसे आदर्श व तथ्य उजागर होते हैं जिन्हें हम प्राचीन शिक्षा प्रणाली के मूलाधार कह सकते हैं। शिक्षण प्रक्रिया में बहुत से ऐसे तत्त्व दिखाई पड़ते हैं जो प्राचीन शिक्षा प्रणाली से ही लिये गये दृष्टिगत होते हैं। यद्यपि पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के सम्पर्क से उनमें थोड़ा परिवर्तन देखा जा सकता है किन्तु उनके मूल में प्राचीन संस्कृति की ही झलक दिखाई पड़ती है।

शिक्षा के आदर्श—

प्राचीन भारतीय शिक्षा के आदर्श उद्देश्यों की प्राप्ति में पूरी तरह सहायक थे। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य उत्तम चरित्र का निर्माण करते हुए छात्रों के समग्र व्यक्तित्व का विकास करना था। शिक्षा पूर्णतया धर्म से अनुप्राणित थी। छात्र को आत्म ज्ञान का विकास करना था। छात्र को आत्म ज्ञान (Knowledge of self) व ब्रह्मज्ञान (Ultimate Truth) की शिक्षा देते हुए मोक्ष की प्राप्ति के लिये तैयार किया जाता था। किन्तु जहाँ एक ओर आध्यात्मिक विकास को महत्त्व दिया जाता था वहीं छात्र में सामाजिक कुशलता का विकास भी आवश्यक माना जाता था, छात्र को आत्मनिर्भर होने की भी शिक्षा दी जाती थी। अध्ययन काल में चित्त वृत्ति निरोध (Control of Senses) शिक्षा का मुख्य आधार माना गया था। यदि आज की शिक्षा के उद्देश्यों पर दृष्टि डालें तो हमें लगभग वे उपरोक्त कथित सभी उद्देश्य देखने को मिलते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली का भी सर्वप्रमुख उद्देश्य है विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास करते हुए उसे समाज का एक उत्तम कुशल नागरिक बनाना।

आज भी चारित्रिक उद्देश्य को प्राथमिकता दी जाती है, भले ही यह चारित्रिक उद्देश्य चरित्र प्रमाण पत्र (Character Certificate) तक ही सीमित रह गया है, किन्तु उद्देश्य की शृंखला में इसे प्राथमिकता की श्रेणी में रखा जाता है। आज भी शिक्षक, अभिभावक छात्र से यही उम्मीद रखते हैं कि छात्र जीवन में इन्द्रियों को वश में करते हुए ज्ञानार्जन करें। इस तरह से यद्यपि प्राचीन काल की शिक्षा के उद्देश्यों को आज की शिक्षा क्रियान्वयन में पूरी तरह सक्षम नहीं हो पा रही है किन्तु शिक्षा का आदर्श आज भी पूर्व कथित उद्देश्यों की परम्परा पर टिका माना जाता है।

शिक्षण संस्थाएं—

प्राचीन शिक्षण संस्थाएं आदर्श संस्थाएं थी। शहर के कोलाहल से दूर गुरुकुल शिक्षा के औपचारिक केन्द्र के रूप में थे, जहाँ का वातावरण पूरी तरह पारिवारिक होता था। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए छात्र के बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास को प्रमुखता दी जाती थी।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली को देखें तो आज भी कुछ ऐसी शिक्षण संस्थाएं व गुरुकुल मिलेंगे जो प्राचीन परिपाटी पर चल रहे हैं। जहाँ आज भी भारतीय संस्कृति को जीवित रखने का प्रयास किया जा रहा है। इसके साथ ही आज हमें जो आवासीय विद्यालय (Residential School) देखने को मिलते हैं, उनकी अवधारणा भी सम्भवतः गुरुकुल की परम्परा पर ही आधारित है। प्रारम्भ में इन विद्यालयों की स्थापना भी सम्भवतः गुरुकुल के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए की गई होगी किन्तु अन्तर यह देखने में आया कि आज के ये विद्यालय मात्र उच्च वर्ग के लोगों की शिक्षा प्राप्ति के लिये ही सीमित रह गये हैं तथा सामान्य वर्ग की सामर्थ्य के बाहर हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम जनसामान्य के लिये उच्चादर्शों से युक्त प्राचीन

परिपाटी पर आधारित ऐसे शिक्षालयों की व्यवस्था करें जिससे प्राचीन भारतीय शिक्षालयों का आदर्श साकार हो सके।

निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान—

प्राचीन काल की शिक्षा निःशुल्क थी। ब्राह्मण शिक्षा—दीक्षा का कार्य करते थे। चारित्रिक शुद्धता ही प्रवेश का मानदण्ड थी। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में भले ही निःशुल्क शिक्षा का स्वरूप पूर्णरूप से देखने को नहीं मिलता, किन्तु इतना कहा जा सकता है कि हमारे संविधान के 45 वें अनुच्छेद के अन्तर्गत भी 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की चर्चा की गई है। साथ ही आज भी प्रवेश के समय चरित्र प्रमाण—पत्र (Character Certificate) को मुख्य आधार माना जाता है क्योंकि चारित्रिक विकास सदैव से ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है, इसकी उपयोगिता सर्वकालिक, सार्वभौमिक रही है तथा रहेगी।

प्राचीन काल में शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् गुरुदक्षिणा देने की परम्परा के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं, किन्तु इसमें भी कोई अनिवार्यता नहीं थी। शिक्षार्थी स्वेच्छा व सामर्थ्यानुसार गुरुदक्षिणा देते थे। आज भी यह परम्परा हमारे ईसाई या मिशनरी विद्यालयों में बहुतायत से देखने को मिलता है।

विस्तृत पाठ्यचर्चा—

प्राचीन शिक्षा प्रणाली में षड्वेदांग (शिक्षा, ज्योतिष, कल्प, छंद, निरुक्त, व्याकरण) पाठ्यक्रम का आधार थे। इन्हीं वेदांगों से आगे चलकर अनेक विषय पाठ्यचर्चा में आये जैसे कल्प से कानून विषय प्रकाश में आया। 'परा विद्या' (आध्यात्मिक विषय से सम्बन्धित विद्या) अपरा विद्या (इहलोक या सामान्य विषयों से सम्बन्धित शिक्षा) दोनों ही पाठ्यक्रम का अंग थीं। विषयों को एकाग्र तथा समन्वित रूप से पढ़ने की पद्धति प्रचलित थी।

शिक्षण विधियाँ—

जहाँ तक शिक्षण विधियों का प्रश्न है स्पष्ट है कि आज भी हम उन बहुत सी शिक्षण विधियों को महत्त्व दे रहे हैं जो प्राचीन काल की प्रमुख शिक्षण विधियों में से थीं जैसे आज फिर से मौखिक परीक्षा को (Interview) प्रत्येक क्षेत्र के लिए परीक्षा के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त वे विधियाँ जो हमारे शिक्षालयों के प्रमुख रूप से अपनायी जा रही हैं जैसे व्याख्यान विधि, प्रश्नोत्तर विधि, स्वाध्याय विधि, निर्दिष्ट पाठ विधि (Assignment Method) आदि प्राचीन शिक्षा प्रणाली की ही देन हैं तथा जिनके महत्त्व को शिक्षाविदों ने आज पूर्णतः स्वीकार किया है। कक्षा नायकीय प्रणाली (Monitorial system) को भी प्राचीन शिक्षा पद्धति की देन कहा जा सकता है। भले ही इसके अर्थ व स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन आ गया है किन्तु आज इस प्रणाली को हमारे शिक्षालयों में पर्याप्त रूप से देखा जा सकता है।

बाल केन्द्रित शिक्षा—

प्राचीन काल की शिक्षण व्यवस्था में शिक्षक प्रमुख स्थान ग्रहण करते थे किन्तु समग्र अध्ययन—अध्यापन विद्यार्थी के हित को ध्यान में रखते हुए ही किया जाता था। आज जिस बाल केन्द्रित शिक्षा को हम शिक्षा मनोविज्ञान की देन मानते हैं वह प्राचीन शिक्षा प्रणाली में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यानि जिस समय कि शिक्षा मनोविज्ञान विषय प्रकाश में भी नहीं आया था उस समय भी बाल केन्द्रित शिक्षा के प्रश्रय दिया गया था। समस्त शिक्षण उस समय मनोविज्ञान के ही सिद्धान्तों पर आधारित था। गुरुकुल में अन्तेवासी के रूप में रहते हुए छात्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया जाता था जो आज की शिक्षा का भी प्रमुख और एकमात्र उद्देश्य है।

जहाँ तक अनुशासन का प्रश्न है, प्राचीन

काल में स्वानुशासन (Self Discipline) पर बल दिया जाता था, शारीरिक दण्ड का विधान नहीं था। आज भी शिक्षा मनोवैज्ञानिक इससे एकमत हैं कि छात्र को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए। शारीरिक दण्ड छात्रों में अनेक प्रकार की मानसिक कुण्ठाओं को जन्म देता है।

स्त्री शिक्षा—

वर्तमान युग में स्त्री शिक्षा विकास में निरन्तर उत्तरोत्तर प्रगति देखने को मिल रही है। आज स्त्री पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के शिखर पर पहुँच रही है। यदि प्राचीन शिक्षा के इतिहास के पृष्ठों का अवलोकन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व वैदिक काल में भी स्त्रियों की दशा समाज में बहुत उन्नत थी। स्त्री जाति को पुरुष जाति का पूरक स्वीकार करते हुए उसे अर्धांगिनी की संज्ञा दी गई थी। प्रत्येक धार्मिक एवं सामाजिक कार्य में उसकी सहभागिता आनिवार्य समझी जाती थी। यद्यपि स्त्री शिक्षा के विकास की प्रगति में उत्तर वैदिक काल में कई बाधाएं आयीं, अनेक उतार—चढ़ाव देने को मिले, किन्तु आज पुनः स्त्री शिक्षा के इतिहास में पूर्व वैदिक काल का सा स्वरूप देखने को मिलता है। अतएव स्त्री शिक्षा के विकास का आधार भी प्राचीन शिक्षा को माना जा सकता है।

समावर्तन संस्कार—

समावर्तन का अर्थ है 'वापस लौटना'। प्राचीन काल की शिक्षा प्रणाली का यह महत्त्वपूर्ण संस्कार वर्तमान शिक्षा प्रणाली में दीक्षान्त समारोह के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है और इस समारोह के मूल में आज भी वही आदर्श रखे गये हैं जो पहले थे। विद्याध्ययन की समाप्ति के पश्चात् होने वाला यह संस्कार विद्यार्थी को गृहस्थ जीवन को अपनाने की भी प्रेरणा देता था। तैत्तिरीय उपनिषद में इस प्रकार के दीक्षान्त समारोह का उल्लेख मिलता है। दीक्षान्त

समारोह की समाप्ति गुरु के आशीर्वचन एवं जीवन के सुखद भविष्य की मंगल कामना से होती थी।

यद्यपि आज ये समारोह प्रत्येक विश्वविद्यालय में नियमित रूप से नहीं होते किन्तु अभी भी अनेक विश्वविद्यालय, परम्परागत रूप से चले आ रहे इस संस्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हैं व उसी भावना के साथ सम्पन्न भी करा रहे हैं।

शिक्षा के अन्य अभिकरण—

प्राचीन काल में शिक्षा प्राप्ति के साधन मात्र गुरुकुल का आश्रम ही नहीं थे। इस काल काल की शिक्षा व्यवस्था में परिषद एवं सम्मेलन की भी चर्चा मिलती है। गुरुकुल की अवधि पूर्ण कर लेने के पश्चात् इच्छुक व ज्ञान-पिपासु छात्र परिषद में आकर विद्वत् चर्चाओं व अनेक अन्य माध्यमों द्वारा ज्ञानार्जन करते थे। उस काल में यदा कदा सम्मेलनों का आयोजन भी किया जाता था, जिनमें विविध विषयों के मूर्धन्य विद्वान शंका समाधान अथवा शास्त्रार्थ हेतु एकत्र होते थे। सम्मेलनों में श्रेष्ठ विद्वानों को पुरस्कृत किये जाने की परम्परा का भी उल्लेख मिलता है।

यदि हम शिक्षा के इन तीनों अभिकरणों—गुरुकुल, परिषद, सम्मेलन पर ध्यान दें तो इन तीनों का ही स्वरूप आज भी देखने को मिलता है। आजकल के जो आवासीय विद्यालय हैं वे गुरुकुल के आदर्शों व उद्देश्यों को लेकर बनाये गये प्रतीत होते हैं। भले ही ये अपने उद्देश्यों में खरे नहीं उतर रहे हैं किन्तु अवधारणा वहीं से ली गयी है। परिषद् और सम्मेलन तो आज भी उसी रूप में गृहीत किये गये हैं। आज प्रत्येक विषय की परिषद (Academies) बनायी गयी हैं जिन्हें 'अकादमी' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आज देश में विभिन्न विषयों की विभिन्न अकादमी अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। जहाँ तक 'सम्मेलन' का प्रश्न है ये भी आज की शिक्षा जगत

प्रचलित हैं। आज भी विद्वत् सम्मेलनों के माध्यम से ज्ञानवर्धन के प्रयास किये जा रहे हैं।

प्राचीन काल की शिक्षा प्रणाली की विविध विशेषताओं को दृष्टिगत रखते हुए यह स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है कि प्राचीन शिक्षा नींव पर ही वर्तमान शिक्षा प्रणाली विकास की ओर अभिमुख हुई है। अन्तर केवल यह देखने को मिलता है कि वे विशेषताएं आज उस रूप में नहीं हैं जैसी कि उनसे अपेक्षा की जाती है। इसका कारण समाज का बदलता हुआ ढांचा, मूल्यों में परिवर्तन एवं आवश्यकताओं की वृद्धि का होना है। आवश्यकता इस बात की कि हम प्राचीन काल की शिक्षा के उन विशिष्ट प्रासंगिक तत्त्वों को वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सही ढंग से सम्मिलित करें व भारतीय शिक्षा को, जो पाश्चात्य परंपरा के आवरण में लुप्त होती जा रही है, नवजीवन प्रदान करें तथा उसके वास्तविक कलेवर से जन-जन को परिचित करायें। ●

अगर दुनिया में पाप है, तो वह दुर्बलता है। हर तरह की दुर्बलता से बचो। दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है। जो भी चीज तुम्हें शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक रूप में दुर्बल बनाती है, उसे जहर की तरह तिरस्कृत करो। उसमें कोई जीवन नहीं है। वह वह सत्य नहीं हो सकती।

—स्वामी विवेकानन्द

भारत और चीन : सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन

स्वाति मिश्र

भारत और चीन जो विश्व की दो महान सभ्यताएँ रही हैं, आदि काल से ही विश्व की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रगति में एक विशेष भूमिका निभाते चले आ रहे हैं। मेरा यह लेख इक्कीसवीं सदी में इन दोनों देशों की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का एक तुलनात्मक अध्ययन है। मेरा प्रमुख उद्देश्य इक्कीसवीं सदी के इन दो सितारों द्वारा सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन और प्रगति के लिए उठाए गए कदमों में समानता और विभिन्नता का अध्ययन है। चूंकि यह एक तुलनात्मक अध्ययन है, अतः मेरा प्रयास है कि मैं अपने अध्ययन के दोनों पहलुओं—समानता और विभिन्नता पर समान रूप से प्रकाश डालूँ।

साधारणतया इन दोनों देशों का नाम साथ-साथ लिया जाता है। शायद इसका प्रमुख कारण है दोनों देशों के बीच आश्चर्यजनक रूप से पायी जाने वाली ऐतिहासिक और प्राकृतिक समानताएँ जो कहीं न कहीं दोनों देशों को जोड़ती हैं। दोनों ही विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से हैं। भौगोलिक तौर पर दोनों ही आकार की दृष्टि से विशाल हैं। दोनों ही अत्यधिक जनसंख्या वाले देश हैं और ध्यान देने वाली बात यह है कि दोनों ही देश विभिन्न जातियों—प्रजातियों के होने के बावजूद अनेकता में एकता पर बल देते हैं। दोनों ही ग्राम—प्रधान देश हैं। उन्नीसवीं—बीसवीं शताब्दी के दौर में दोनों ही देशों ने बाहरी शक्तियों को झेला और पश्चिमी दुनिया से ये दोनों ही देश आज भी नाना कारणों से भिन्न हैं।

1947 में भारत और 1949 में चीन ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनावश्यक प्राचीन बेड़ियों को तोड़ते

हुए, अपना प्रमुख लक्ष्य सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्तर पर बहुमुखी विकास को बनाया।

दोनों ही देशों के लिए परिवर्तन शब्द बहुत आसान नहीं था, क्योंकि सदियों से चली आ रही रूढ़ियों की बेड़ियों को एक झटके से उतार फेंकना और बाहरी आक्रमणकारियों द्वारा की गई हानि की भरपाई करना अपने आप में बहुत बड़ी चुनौती थी। दोनों ही आर्थिक दृष्टि से बहुत ही कमजोर हो गए थे। चीन थोड़ा कम, लेकिन भारत सांस्कृतिक और सामाजिक तौर पर एक के बाद एक हुए हमलों से बुरी तरह टूट चुका था। संस्कृति की नींव बहुत ही मजबूत होने के कारण, पूर्णतया तहस नहस करना किसी भी बाहरी शक्ति के लिए सम्भव न हो पाया था लेकिन सामाजिक स्थिति बहुत ही कमजोर हो चली थी। ऐसे में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दोनों ने पुनर्जीवन पाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के बीस—तीस साल बहुत ही संघर्षमय थे लेकिन परिस्थितियों से जूझते हुए दोनों ही ने स्वयं को अवांछित परिस्थितियों से निकाला, वास्तव में यह इनके अदभुत धैर्य का द्योतक है। Great leap forward और औद्योगिक क्रान्ति के बाद सांस्कृतिक क्रान्ति ने देश को झकझोर कर रख दिया था। माओ—त्से—तुंग, चीन के प्रथम राष्ट्रपति जिन्हें जनता ने भगवान स्वरूप सम्मान दिया और जिन्होंने चीन की स्वतन्त्रता प्राप्ति में प्रमुख भूमिका निभाई, ने एक के बाद एक अपनी योजनाओं के साथ चीन को और भी बुरी स्थिति की कगार पर लाकर खाड़ा कर दिया। दंग—जियाओ—पिंग, झू—दे आदि नेताओं ने अपनी बुद्धिमता से इस स्थिति को सम्भाला। शायद यह कुछ तकनीकी अनुभवों व जल्दबाजी में उठाए गए

कदमों का परिणाम था। लेकिन तमाम विफलताओं के बावजूद चीन के आज स्वस्थ और प्रभावशाली होने का पूरा श्रेय माओ को ही जाता है क्योंकि देश की प्रगति की प्रमुख जड़ कहाँ है, इसे माओ ही समझ पाए थे। और इस जड़ को पकड़ने में शायद भारत चूक गया था। माओ यह समझ गए थे कि कृषक और मजदूर वर्ग ही देश की असली ताकत हैं और उनकी प्रगति के बिना देश की प्रगति असम्भव है तथा देश की असली शक्ति चीन के गाँवों में है। गाँवों के विकास में ही देश का विकास है। सार्वभौमिक विकास के लिए हर एक वर्ग का आगे आना अत्यन्त आवश्यक है। शायद इसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि माओ एक कृषक परिवार से थे एवं साधारण जनता के बीच ही पले बढ़े थे। स्वाभाविक रूप से वह आम आदमी की मनःस्थिति से पूर्णतया अवगत थे। भारत में ज्यादातर नेता बुद्धिजीवी परिवारों से थे जो साधारण जनता की भावनाओं, बल और क्षमता को पूरी तरह से समझने में असफल रहे और कुछ नेताओं ने प्रयास किया भी तो उसे औरों द्वारा पूरी तरह से नजरन्दाज कर दिया गया और कुछ हद तक दबाया भी गया। लेकिन चीन में ऐसा नहीं हुआ और शायद यही कारण था कि तमाम योजनाओं की विफलताओं के बावजूद माओ का मुख्य मकसद सफल रहा। यह सच है कि नए चीन की शुरुआत जिन सपनों के साथ हुई थी, इक्कीसवीं सदी के आते-आते उसमें बहुत फेर बदल हो चुका है। बापू के सपनों के भारत से इक्कीसवीं सदी का भारत और मालवीय जी के सपनों के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आज का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बहुत भिन्न है। सपने धीरे-धीरे अपना रूप बदल ही लेते हैं। यह बहुत ही स्वाभाविक है। माओ के सपने के साथ भी यही हुआ। लेकिन भारत ने बहुत हद तक अपने आदर्शों के साथ समझौता नहीं किया

और यही भारत की सबसे बड़ी सफलता है।

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर खड़े दोनों देशों ने इस क्षेत्र में बहुत हद तक इस चुनौती पर विजय प्राप्त कर ली है। मेरे अध्ययन के अनुसार इक्कीसवीं सदी के चीन और भारत की सामाजिक स्थिति कुछ इस तरह है। “Women hold half of the sky” चीन के सन्दर्भ में यह विख्यात लोकोक्ति है। नारी समाज का एक अभिन्न हिस्सा है। ज्यादातर अध्ययनों के अनुसार आज चीन की तुलना में भारत में स्त्रियों का स्थान उतना ऊँचा नहीं है। आँकड़े यही दिखाते हैं कि चीन में महिलाओं का साक्षरता स्तर ज्यादा ऊपर है। भारत में आज भी 40% के नीचे है। आधुनिक समाज में प्रगति के जो पैमाने हैं उसमें चीनी महिलाएँ भारतीय महिलाओं की तुलना में बहुत आगे हैं। चीनी महिलाओं की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता भारतीय महिलाओं की अपेक्षा ज्यादा है। शायद यह मेरा स्वयं का विचार है और दो सालों में चीन को अपनी आँखों से देखने सुनने के बाद के अनुभव के अनुसार मैं इस बात से सहमत नहीं हो सकती कि भारतीय महिलाओं की स्थिति चीन की महिलाओं से ज्यादा अच्छी रही है। यह सच कि चीन में कन्फ्यूशियसवाद और भारत में मनुस्मृति के ब्राह्मणवाद के अनुसार महिलाओं को बराबरी का दर्जा दोनों ही देशों ने नहीं दिया और दोनों ही ने नारी को एक पदार्थ मात्र माना है। इक्कीसवीं सदी धीरे-धीरे इस मानसिकता में परिवर्तन देख रही है और नारी इस ‘पदार्थ मात्र’ की परिधि से बाहर निकल रही है। दोनों ही देशों में पुरुष प्रधान मानसिकता से ग्रसित पुरुष वर्ग इस परिवर्तन को पूर्णतया स्वीकार नहीं कर पाया है, लेकिन पूर्ण रूप से नारी की क्षमता को अस्वीकार करने की स्थिति में भी नहीं है। इस मानसिकता में समानता के बावजूद दोनों देशों में यह असमानता है कि जहाँ चीन नारी की स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता

को स्वीकार करने लगा है और उसके पैरों को बाँधने की परम्परा को तोड़कर अपनी आँखों को उन पैरों को फुटबॉल के मैदान में थिरकते देखने को अभ्यस्त कर चुका है, वहीं भारत में सदैव से ही नारी देवी स्वरूपा मानी गई है। नारी की प्रताड़ना दोनों ही देशों में हुई है और अभी भी हो रही है लेकिन नारी को सिर्फ भारत में ही देवी माना गया है तथा नारी को मैदान में खेलते हुए देखने को, पूर्णतया, चीन ही स्वीकार कर पाया है। दोनों देशों की सामाजिक सोच में यह एक बड़ा अन्तर है।

दोनों देशों में अगर छात्रों और युवाओं की स्थिति देखी जाए तो भारत निश्चित रूप से अपने युवाओं को ज्यादा स्वतन्त्रता देता है। प्रजातान्त्रिक देश में जन्में भारतीय युवा जितनी खुली हवा में पलते बढ़ते हैं, चीन के छात्र और युवा वैसा कभी सोच भी नहीं सकते। मानव अधिकारों का हनन जिस तरह चीन में हो रहा है वह चीन की सामाजिक, आर्थिक प्रगति के बावजूद उस पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है। 1989 की घटनाएँ आज भी चीनी नागरिकों की आँखों के सामने घूम रही हैं। यह सच है कि चीनी सरकार ने उस घटना को दबाने की पूरी कोशिश की और पूरे प्रयत्न किए कि उस घटना पर परदा डाला जा सके, किन्तु उस विरोध में सम्मिलित युवा और बुद्धिजीवी उस घटना को कभी भुला नहीं पायेंगे। उस घटना से जुड़े सारे लोग आज या तो चीन की जेलों में हैं या चीन के बाहर दूसरे देशों में शरण लिए हैं या फिर चीन में गृहबन्दी (under house arrest) हैं। चीनी सरकार उनके प्रजातन्त्र के लिए किए जा रहे प्रयासों को पूरी तरह से दबा नहीं पा रही है।

चीन की सरकार चीन की प्रगति के लिए बल का प्रयोग कर रही है लेकिन भारत की सरकार भ्रष्टाचार के बावजूद बल का प्रयोग नहीं करती। यहाँ कहा जाता है कि भारत के पिछड़ेपन के लिए

यही पहलू जिम्मेदार है कि भारत सरकार बल प्रयोग नहीं करती। लेकिन यदि भारत सरकार ऐसा करती तब क्या भारत का स्वरूप ऐसा ही होता जैसा अभी है? क्या हम खुली हवा में साँस ले पाते? शायद नहीं, क्योंकि चीन के युवाओं में, विश्वविद्यालय के छात्रों में एक भय सा दिखाई देता है। वे जैसे कुछ कहना चाहते हैं, लेकिन डरे हैं। उनका मुँह खोलना उनकी जिन्दगी बदल कर रख देगा। वो अपनी सरकार से कुछ माँगना चाहते हैं, उन्हें माँगने, मुँह खोलने का भी अधिकार नहीं है।

बल प्रयोग का एक सुपरिणाम यह है कि समय की पाबन्दी अधिक परिश्रम करने की जो क्षमता चीनी युवाओं में दिखती है वह हममें शायद नहीं है। और यही हमारी कमी है। शायद, कुछ हद तक, हमारे देश पर पिछड़ेपन का जो लेबल लगा है, वह इसी कारण है। इससे न चाहते हुए भी हमें सहमत होना पड़ता है। चीन में कई राजनीतिक दल होने के बावजूद वरीयता हमेशा कम्युनिस्ट पार्टी को ही मिलती है। जनता चाहते हुए भी अपना मत दूसरे किसी को नहीं दे सकती। न वह इस विषय पर विचार व्यक्त कर सकती है कि व किसे अपना मुखिया बनाना चाह रही है।

भारत की ही तरह चीन में भी कई जातियाँ और जनजातियाँ हैं। इसलिए जाति प्रथा की समस्या चीन में भी है। भारत में आज भी जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद इत्यादि विद्यमान हैं और यहाँ तक कि भारत के शैक्षिक संस्थानों में आज भी इस प्रथा का कुछ हद तक दबदबा है। आधुनिक चीन भी इससे अछूता नहीं है। समूह के लोगों को ज्यादा सुविधाएँ मिलती हैं। अल्पसंख्यकों की प्रगति के लिए चीन सरकार ने बहुत सी योजनाएँ लागू की हैं, लेकिन अभी उन्हें बराबरी का दर्जा नहीं मिल पाया है। फिर भी, इन सबके साथ एक बात है जो पूरे चीन

शिक्षक की भूमिका, उत्तरदायित्व एवं अध्यात्म

डॉ० राधा किशोर

आज वर्तमान शिक्षा पद्धति समाज को साक्षर कर रहा है, शिक्षित नहीं। यदि हम गौर करें तो पायेंगे की पिछले पचास वर्षों से लेकर अब तक इस पृथ्वी पर शिक्षा का जितना प्रसार हुआ, इतना कभी भी नहीं हुआ था। पर आश्चर्य है कि (भारत के संदर्भ में) जो जितना शिक्षित है वह उतना ही भ्रष्ट है, एक गंवार व्यक्ति कही ज्यादा सरल है— कही ज्यादा ईमानदार है। उदाहरण स्वरूप भारत में एक प्रोफेसर, डॉक्टर, इंजिनियर, आई०ए०एस०, आई०पी०एस० उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति हैं, पर हम पाते हैं कि (कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर) वे समाज के प्रति कर्तव्यहीन हैं और अपने स्वार्थ में ज्यादा लिप्त हैं।

स्पष्ट है कि शिक्षा में जरूर कहीं कोई बुनियादी भूल हुई है। अन्यथा यदि वे सही मायने में शिक्षित हुए होते तो स्वयं को ज्ञान रूपी प्रकाश से भरते तथा उनके अन्दर का अज्ञान रूपी अन्धकार तिरोहित होता और समाज में मानवता के काम आते।

आखिर बुनियादी भूल कहाँ हुई? बुनियादी भूल हुई है। पहले, बल्कि नालंदा विश्वविद्यालय तक सुबह और शाम शिष्यों को 'ध्यान—साधना—कराया जाता था और दिन में किताबी तथा संसारिक जानकारी दी जाती थी। फलस्वरूप किताबी और संसारिक जानकारी देने से 'मस्तिष्क' का विकास होता था और 'ध्यान—साधना' कराये जाने से हृदय का विकास होता था, जिसके कारण वे बौद्धिक ज्ञान तो प्राप्त करते ही थे, साथ ही मानवीय मूल्यों एवं आध्यात्मिक ज्ञान को भी प्राप्त करते थे।

आज शिक्षा का जहाँ तक प्रश्न है—क्या हो रहा है? आज हमें सिर्फ किताबी और संसारिक जानकारी ही शिक्षा के माध्यम से दी जा रही है।

फलस्वरूप मस्तिष्क का विकास तो खूब हुआ और हो रहा है। यहाँ तक कि हम चाँद और तारों की ऊँचाईयों को छूने लग गये हैं, पर हृदय का विकास? हृदय का विकास अवरुद्ध हो गया और व्यक्ति के जीवन में ध्यान—साधना का महत्त्व न होने कारण मानवीय मूल्यों में ह्रास होने लगा। फलतः प्रेम, अहिंसा, दया, ईमानदारी आदि खोने लग गई। क्योंकि प्रेम, अहिंसा, दया, ईमानदारी आदि हृदय से आती है। इनके जगह पर नफरत, हिंसा, क्रोध, बेईमानी, छल—कपट आदि ने मनुष्य को अपने आगोश में ले लिया। ये नफरत, हिंसा आदि मस्तिष्क की उपज हैं। यही कारण है कि आज मनुष्यता खतरे में है। यहाँ तक कि विश्व विनाश के कगार पर है।

आखिर हम मनुष्य को मानवीय मूल्यों से कैसे भर सकते हैं? एक सुन्दर समाज का निर्माण कैसे कर सकते हैं? एक प्रेमपूर्ण दुनियां कैसे बना सकते हैं? इसके लिए हमें मनुष्य में व्याप्त स्वाभाविक वृत्तियां—काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अंधकार को विसर्जित करने के उपाय खोजने होंगे। और ये उपाय एकमात्र, हाँ—सिर्फ एक मात्र 'ध्यान—साधना' के माध्यम से ही मिल सकता है। ध्यान—साधना काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार से छुटकारा दिलाती है और हमें इस लायक बनाती है कि हममें प्रेम का अविर्भाव हो, हमें चेतना की चरम ऊँचाई यानि परमात्मा तक पहुँचाने में, सत्य को उपलब्ध होने में, मानवीय गुणों से भरने में सहायक होती है।

पर विडम्बना है कि जिन लोगों ने 'ध्यान—साधना' को अपने जीवन में उतारने की सलाह दी—यानि कृष्ण, बुद्ध महावीर, जीसस, मोहम्मद, नानक आदि उनकी हम सुनते नहीं और तथाकथित

पंडित, पुरोहित, मौलवी, पादरी की सुनने लग जाते हैं, जो हमें पथभ्रष्ट के अलावा कुछ नहीं करते।

उपर्युक्त बातों पर यदि हम गौर करें तो शिक्षा के दो पहलू उभर कर समने आते हैं— एक संसारिक तथा दूसरा आध्यात्मिक। जबतक हम शिक्षा में हम दोनों पहलूओं को समावेश नहीं करेंगे तबतक स्वस्थ मनुष्य एवं स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं कर सकते।

शिक्षक की भूमिका एवं उत्तरदायित्व :

20वीं सदी के महान् दार्शनिक एवं मनीषी 'ओशो' ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा में क्रांति' में शिक्षा के संबंध में अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि "जीवन के वृक्ष पर कड़वे और विषाक्त फल देखकर क्या गलत बीजों के बोये जाने का स्मरण नहीं आता? बीज गलत नहीं तो वृक्ष पर गलत फल कैसे आ सकते हैं? वृक्ष का विषाक्त फलों से भरा होना बीज में प्रचछन्न विष के अतिरिक्त और किस बात की खबर है? मनुष्य गलत है तो निश्चय ही शिक्षा ही सम्यक शिक्षा नहीं है।

इन्होंने शिक्षा के प्रति शिक्षक की भूमिका एवं उत्तरदायित्व के संबंध में कुछ बिन्दुओं पर अपना विचार प्रकट किया है, जिसका सार संक्षेप निम्नलिखित है।

1. शास्त्र और सिद्धान्त से मुक्त करें— शास्त्र एवं सिद्धान्त से मनुष्य को मुक्त करना चाहिए। क्योंकि जो जितना अधिक शास्त्र को जानते हैं, उनके लिए जीवन को जानना उतना ही कठिन हो जाता है। शास्त्र सदा ही सत्य को जानने में बाधा बन जाते हैं। शास्त्र से भरे हुए चित्त में चिंतन समाप्त हो जाता है। चिंतन के लिए तो निर्भार और पक्षपात मुक्त चित्त चाहिए। शास्त्र एवं सिद्धान्त पक्ष पैदा करते हैं।

2. विचार देना नहीं, जगाना है— विचार देना, स्मृति को भरना है। वह विचार या विवेक का

जागरण नहीं है। स्मृति विवेक नहीं है। स्मृति तो यांत्रिक है। विवेक है चैतन्य। विचार नहीं देना है, विचार को जगाना है। व्यक्ति जब दूसरों के विचारों एवं शब्दों में ही कैद हो जाता है, तो सत्य के आकाश में उसकी स्वयं की उड़ने की क्षमता ही नष्ट हो जाती है। विचार संग्रह जड़ता लाता है फलतः विचार और विवेक का जन्म नहीं होता।

3. श्रद्धा की जगह संदेह सिखाना है— विचार और विवेक के आविर्भाव हेतु श्रद्धा की जगह संदेह सिखाना अनिवार्य है। श्रद्धा और विश्वास बांधते हैं। संदेह मुक्त करता है। संदेह का तात्पर्य अविश्वास नहीं है, क्योंकि अविश्वास तो विश्वास का ही नकारात्मक रूप है— न विश्वास, न अविश्वास वरन् संदेह। विश्वास और अविश्वास दोनों ही संदेह की मृत्यु है और जहाँ संदेह की मृत्यु है वहाँ न सत्य की खोज है, न सत्य की प्राप्ति है।

4. शोषण का विरोध करना सिखायें— शिक्षक के माध्यम से मनुष्य के चित्त को परतंत्रताओं की अत्यन्त सूक्ष्म जंजीरों में बांधा जाता रहा है। यह सूक्ष्म शोषण बहुत पुराना है। शोषण के अनेक कारण हैं— धर्म है, धनपति हैं, सत्ताधिकारी हैं।

सत्ताधिकारी ने कभी नहीं चाहा है कि मनुष्य में विचार हों, क्योंकि जहाँ विचार है, वहाँ विद्रोह का बीज है। विचार मूलतः विद्रोह है। विचार के साथ आयेगी क्रांति सब तलों पर और सब संबंधों में, राजनीतिज्ञ भी उससे नहीं बचेंगे और राष्ट्रों की सीमाएँ भी नहीं बच सकती। अतः विचार से भय है, पूंजीवादी राजनीतिज्ञों को भी, साम्यवादी राजनीतिज्ञों को भी और इस भय से सुरक्षा के लिए शिक्षा के ढांचे की ईजाद हुई है। यह तथाकथित शिक्षा सैकड़ों वर्षों से चल रहे एक बड़े षड्यंत्र का हिस्सा है। धर्म पुरोहित पहले इस पर हावी थे अब राज्य हावी है।

5. अनुशासन न थोपे— मनुष्य की परतंत्रता के

लिए ही अनुशासन पर बल दिया जाता है। विवेक के अभाव की पूर्ति अनुशासन से करने की कोशिश की जाती है। विवेक हो तो व्यक्ति में और उसके जीवन में एक स्वतः स्फूर्त अनुशासन अपने आप ही पैदा होता है। उसे लाना नहीं पड़ता है। लेकिन जहाँ विवेक सिखाया ही न जाता हो, वहाँ ऊपर से थोपे अनुशासन पर ही निर्भर होना पड़ता है। पर यह अनुशासन मिथ्या होगा। अनुशासन की प्रतिक्रिया में स्वच्छन्दता पैदा होती है और स्वच्छन्दता में अराजकता छुपी हुई होती है जो एक दिन विस्फोटक रूप धारण कर लेती है।

अनुशासन ने क्या किया है? मनुष्य में जड़ता और बुद्धिहीनता लाई है? कहा जाय गोली चलाओ तो गोली चलायेगा। ऐसी जड़ता की शिक्षा के कारण ही दुनिया में युद्ध और हिंसा और भांति-भांति की मूर्खताएं चलती रहीं हैं और चल रही हैं। काश अनुशासन की जगह विवेक सिखाया गया होता, आज्ञाकारिता की जगह विचार सिखाया गया होता, तो निश्चय ही दुनिया बिल्कुल दूसरी ही हो सकती थी। फिर अनुशासन के नाम पर शोषण नहीं किया जा सकता। धर्म पुरोहितों और राजनीतिज्ञों के हाथ में हिंसा और युद्ध के लिए उसे उपकरण नहीं बनाया जा सकता। उसके आधार पर हिन्दू और मुसलमान से नहीं लड़ाया जा सकता। और न राष्ट्रों की झूठी और कल्पित सीमाओं पर ही रक्तपात के तांडव नृत्य किये जा सकते हैं।

6. आदर्श न सिखायें— बच्चों को आदर्श न सिखायें। उसे यह न सिखायें कि राम जैसे बनों, बुद्ध जैसे बनो, गाँधी जैसे बनो। इससे भूल भरी बात और क्या होगी? क्या कोई किसी और जैसा बन सकता है या कि कभी बन सका है? वस्तुतः कोई भी मनुष्य दूसरे जैसा बनने के लिए पैदा हुआ ही नहीं है। प्रत्येक को, उस बीज को ही वृक्ष तक पहुंचाना है जो कि उसमें ही छिपा है। किसी की

किसी से तुलना आधारभूत भूल है। तुलना से स्पर्धा पैदा होती है। व्यक्ति का निज व्यक्तित्व पूर्णता को कैसे प्राप्त हो, इस ओर ही सारे प्रयास केन्द्रित होने चाहिए।

7. शिक्षा को महत्वाकांक्षा से मुक्त होना चाहिए— महत्वाकांक्षा ही तो राजनीति है। महत्वाकांक्षा के कारण ही तो राजनीति सबके ऊपर सिंहासन पर विराजमान हो गई है। सम्मान वहाँ है, जहाँ पद है। पद वहाँ है, जहाँ शक्ति है। शक्ति वहाँ है, जहाँ सत्ता है।

इस दौड़ से जीवन में हिंसा पैदा होती है। महात्वाकांक्षी चित्त हिंसक चित्त है। अहिंसा के पाठ पढ़ाये जाते हैं। साथ ही महत्वाकांक्षा भी सिखायी जाती है। इससे ज्यादा मूढ़ता और क्या हो सकती है।

अहिंसा प्रेम है। महत्वाकांक्षा प्रतिस्पर्धा है। प्रतिस्पर्धा प्रेम से बिल्कुल उल्टी है वह तो ईर्ष्या है। वह तो घृणा है। वह तो हिंसा है। वह तो सब भांति सबसे आगे होना चाहती है। इस दौड़ के मूल में क्या है? मूल में है—अहंकार! अहंकार सिखाया जाता है, अहंकार का पोषण किया जाता है। छोटे-छोटे बच्चों में अहंकार जगाया जाता है। उन्हें प्रथम आने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। उनके सरल और निर्दोष चित्त को विषाक्त किया जाता है। फिर यही विषाक्त चित्त जीवन भर प्रेत की भांति उनका पीछा करता है।

बच्चों को विनय के उपदेश दिये जाते हैं और सिखाया जाता है अहंकार। क्या वह दिन मनुष्य जाति के इतिहास में सबसे बड़े सौभाग्य का दिन नहीं होगा जिस दिन हम बच्चों को अहंकार सिखाना बंद कर देंगे? अहंकार नहीं, प्रेम सिखाना है। और प्रेम वहीं होता है, जहां अहंकार नहीं है।

इसके लिए शिक्षण की आमूल पद्धति की बदलनी होगी। प्रथम और अंतिम की कोटियां तोड़नी

होगी। परीक्षाओं को समाप्त करना होगा और इन सबकी जगह जीवन के उन मूल्यों की स्थापना करनी होगी जो कि अहंशून्य और प्रेमपूर्ण जीवन को सर्वोच्च जीवन दर्शन मानने से पैदा होते हैं।

8. रूढ़ धारणाओं को न थोपें— सत्य की दिशा में सबसे बड़ा अपराध तो तब हो जाता है, जब हम सत्य के संबंध में रूढ़ धारणाओं को बच्चों के ऊपर थोपते हैं। यह अत्यंत घातक है।

परमात्मा और आत्मा से संबंध में विश्वास या अविश्वास बच्चों पर थोपे जाते हैं। गीता, कुरान, कृष्ण, महावीर उनपर थोपे जाते हैं। इस भांति सत्य के संबंध में उनकी जिज्ञासा पैदा ही नहीं हो पाती। वे जीवन भर थोपे गये धारणाओं को दुहराते चले जाते हैं। उनकी स्थिति तोतों जैसी हो जाती है। पुनरुक्ति चिंतन नहीं है। पुनरुक्ति जड़ता है। सत्य किसी और से नहीं पाया जा सकता है, उसे तो स्वयं ही पाना होता है।

क्या यह उचित नहीं है कि बच्चों की जिज्ञासा जगाई जाय, लेकिन उन्हें समाधानों से न जकड़ा जाय? उनमें प्रश्न पैदा किये जायें, लेकिन उन्हें उधार के उत्तरों से न भरा जाय? शिक्षा, यदि उन्हें जीवन सत्य के अनुसंधान की महत् यात्रा पर ही भेज सके तो उसका कार्य पूरा हो जाता है।

उपरोक्त बिन्दुओं पर चर्चा करने बाद ओशो कहते हैं कि शिक्षक वही है जो प्रसुप्त समस्याओं को जगा देता है, और जिज्ञासा को जागृत कर देता है, और बच्चों को उनके स्वयं के अनुसंधान-साहस और अभय से भर देता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति इस अर्थ में शिक्षक तभी हो सकता है, जब वह स्वयं आग्रहों और पक्षपातों से मुक्त हो।

इसीलिए शिक्षक होना बड़ी साधना है। शिक्षक होने के लिए सजग और सचेत आत्मा चाहिए। उसके अंदर एक ज्वलंत अग्नि होनी चाहिए—चिंतन की, विचार की, विद्रोह की, अन्यथा

वह जाने-अनजाने किसी स्वार्थ, किसी नीति, किसी धर्म या किसी राजनीति का दलाल हो ही जायेगा और तब वह उन पक्षपातों को और उन धारणाओं को बच्चों पर आरोपित करेगा जिनमें कि वह स्वयं ही कैद में है।

शिक्षक को बहुत कुछ विध्वंस भी करना है ताकि वह सृजन कर सके। उसे बहुत कुछ मिटाना है। ताकि वह कुछ बना सके। उसे परम्पराओं से छोड़ा गया बहुत सा कूड़ा-करकट जलाना है और व्यर्थ के घासपात से मनुष्य के मन की भूमि को साफ करना है, ताकि उसपर प्रेम के और सौंदर्य के फूलों की खेती हो सके।

यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। यदि शिक्षक उसे पूरा कर सकेंगे तो ही एक नये मनुष्य का एक नई मनुष्यता का और एक नये समाज का जन्म हो सकता है। ●

पृष्ठ 47 का शेष भाग

को एक साथ जोड़े हुए है और वह है चीनियों का देश—प्रेम और माओ प्रेम, ठीक उसी तरह जैसे हम भारतीयों को बापू प्रेम।

आधुनिकता की आँधी से दोनों ही देश अछूते नहीं हैं। पाश्चात्य परम्परा को अपनाता जैसे बदलते समय की माँग है, लेकिन इसके बावजूद न तो चीनी अपने spring festival को मूला पाये हैं न भारतीय होली और दीवाली को। छूरी-काँटे से खाने वाले चीनी भी छुन्जी के समय एक साथ बैठकर जिया ओ जी बनाते हैं और कुइयाजी का सेवन करते हैं। और भारतीय होली और दीवाली के दिन निर्धारित पकवान बनाते हैं। त्यौहारों को लेकर इन दोनों देशों में जो उल्लास दिखाई देता है वह अपने-आप में एक मिसाल है। यह दिखाता है कि इन देशों की प्राचीन सभ्यताओं की जड़ें कितनी मजबूत हैं और शायद यह प्राचीन सभ्यता की मजबूत जड़ ही है जो आज भी इन देशों को सांस्कृतिक एकता की डोर में बाँधे है। ●

शांति शिक्षा : एक मानवीय मूल्य के रूप में

दिनेश कुमार सिंह

1. सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि -

भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षा को वह प्रकाश माना गया है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रकाशित करने का सामर्थ्य रखता है। इसीलिए विद्वानों ने शिक्षा को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा है, "ज्ञानम् तृतीयम् मनुजस्य नेत्रम्"। शिक्षा का तात्पर्य आत्म संस्कार, आत्मोन्नति से है जो कि आयुपर्यन्त चलने वाला तथ्य है। "यावज्जीवमधीते विप्राः"। शिक्षा सही अर्थों में व्यक्ति को परिमार्जित करती है। शिक्षा व्यक्ति के सम्पूर्ण आचरण, व्यवहार एवं जीवन मूल्यों को प्रभावित करती है। शिक्षा से केवल शिक्षा ग्रहण करने वाला ही प्रभावित नहीं होता है, बल्कि प्राप्त शिक्षा से निर्मित अपने व्यक्तित्व से व्यक्ति सम्पूर्ण परिवेश, समाज और राष्ट्र को उत्प्रेरित करता है। किन्तु कोई भी शिक्षा तभी उपयोगी, सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है, जब वह सांस्कृतिक एवं भौतिक प्रगति के साथ-साथ लोगों के जीवन मूल्यों को सुदृढ़ करे।

आज इस तथ्य से सभी लोग सहमत हैं कि शिक्षा मूल्य-परक होनी चाहिए। शिक्षा के द्वारा लोगों को मानवीय मूल्यों के प्रति सजग, समर्थ एवं जागरूक बनाया जाना चाहिए। क्योंकि मूल्यों के बिना शिक्षा अर्थहीन है। मूल्य विहीन शिक्षा के द्वारा न तो व्यक्ति, न ही समाज और न ही राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। दुर्भाग्य से आज हमारी शिक्षा प्रणाली इसी मूल्य विहीनता का शिकार हो गई है। भौतिकता, व्यापारीकरण, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस दौर में हमारी शिक्षा प्रणाली में मूल्यों एवं आदर्शों के लिए बहुत ही सीमित स्थान रह गया है। यदि मूल्यों एवं आदर्शों को कुछ स्थान

दिया भी जाता है तो वह सिर्फ सभा, संगोष्ठी एवं किताबों तक ही सीमित रहता है। आज के शिक्षित वर्ग के व्यवहार में कहीं भी मूल्य एवं आदर्श परिलक्षित नहीं होते हैं। आज अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की अन्धी दौड़ में दौड़ते लोगों के पास मूल्यों एवं आदर्शों के लिए समय नहीं है। आज तो जल्द से जल्द अमीर बनने का सपना ही एकमात्र मार्गदर्शक सिद्धान्त बन गया है जिस पर युवा पीढ़ी बेतहाशा दौड़ रही है। इस दौड़ में उसका गाँव, परिवार, देश तथा इनसे जुड़े मूल्य, आदर्श, भावनाएं, संवेदनाएं, खुशियां इत्यादि सभी पीछे छूटते जा रहे हैं। ऐसे में यदि वह मुकाम पा भी लेता है तो वह अकेलेपन, मनोविदिलता एवं अवसाद से ग्रस्त रहता है और यदि वह सफलता प्राप्त नहीं कर पाता तो वह निराशा, अभाव एवं अपराध भाव में डूबता चला जाता है।

वर्तमान में जितनी तेजी से बाजारवाद एवं वैश्वीकरण बढ़ रहा है उतनी तेजी से शिक्षा का व्यवसायीकरण एवं विसंस्कृतिकरण भी होता जा रहा है। अब शिक्षा प्लेटो एवं अरस्तू की 'आंतरिक व्याधि की आंतरिक इलाज' अथवा रूसो की 'व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का माध्यम' नहीं रह गई है वरन् शिक्षा की उपयोगिता एवं प्रासंगिकता केवल आर्थिक हित साधन तक सीमित रह गयी है। आज शिक्षा से सार्वभौमिक मानव मूल्य, राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, सांस्कृतिक गौरव-गाथा, साम्प्रदायिक सौहार्द जैसे तत्त्व तेजी से विलुप्त होते जा रहे हैं। आज की शिक्षा व्यवस्था में जो जितना ही शिक्षित है वह इन सबसे उतना ही दूर है, बल्कि कम पढ़े-लिखे अथवा अनपढ़ व्यक्ति इन मूल्यों के पोषक हैं। इन

परिस्थितियों की खतरनाक परिणति दैनिक सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, अपराधीकरण एवं 'घोटालों' के रूप में हो रही है। शासन-प्रशासन के उच्चतम पदों पर आसीन लोग भ्रष्टाचार एवं जघन्य अपराधों को अंजाम दे रहे हैं।

इन परिस्थितियों में सुधार एवं वर्तमान एवं भावी पीढ़ी की रक्षा हेतु यह आवश्यक है कि शिक्षा व्यवस्था में मानवीय मूल्यों का समावेश किया जाय तथा शिक्षा को मूल्य युक्त बनाया जाय। इस सन्दर्भ में 'शांति शिक्षा' एक सार्थक पहल है।

2. शांति शिक्षा -

'शांति' शब्द आकारिक दृष्टि से सूक्ष्म होने पर भी महत्त्व की दृष्टि से इतना व्यापक है कि सम्पूर्ण विश्व का अस्तित्व ही इस पर निर्भर है। 'शांति' एक व्यापक अवधारणा है जिसमें बहुत से मूल्य समाहित हैं। यह एक मानसिक अभिवृत्ति है जिसमें समानता, निर्भरता और परमार्थ-निष्ठा आदि मूल्य समाहित हैं।

'शांति शिक्षा' उपरोक्त वर्णित मूल्यों को विकसित एवं प्राप्त करने का सशक्त माध्यम है। 'शांति शिक्षा' एक विज्ञान है जो व्यक्ति के आधारभूत आवश्यकताओं तथा समाज की वास्तविक प्रकृति का अध्ययन करता है, जिसमें इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और यह लोगों को हिंसक तथा अहिंसक समाज के प्रति जागरूक बनाता है। इस प्रकार 'शांति शिक्षा' शोषण रहित, उत्पीड़न रहित तथा अहिंसक समाज के सृजन की शिक्षा है, कुमार, अनिल (2001)।

'शांति शिक्षा' कौशल निर्माण है। यह बच्चों की अपनी समस्याओं के सृजनात्मक एवं अहिंसक समाधान का रास्ता प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करती है।

'शांति शिक्षा' के महत्त्व को स्वीकार करते हुए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद,

नई दिल्ली ने विद्यालयीय पाठ्यक्रम में "शांति" नामक मूल्य को प्रोत्साहित करने के लिए "शांति शिक्षा" को सम्मिलित किया है (दैनिक जागरण, 01 जुलाई 2008, वाराणसी)।

राष्ट्रीय पाठ्यक्रम प्रारूप (2005) में भी 'शांति शिक्षा' के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा गया है कि शिक्षा शांति, सहिष्णुता, न्याय, अन्तर सांस्कृतिक समझ तथा नागरिक उत्तर दायित्व के सृजन प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

समय-समय पर विभिन्न विद्वानों तथा महान विभूतियों ने भी 'शांति शिक्षा' के महत्त्व एवं उपयोगिता को रेखांकित किया है। मारिया मान्तेसरी ने तो यहाँ तक कहा कि "सभी शिक्षा शांति के लिए है" (All education is for peace), (सिंह, 2008)।

3. शांति शिक्षा एवं मानवीय मूल्य -

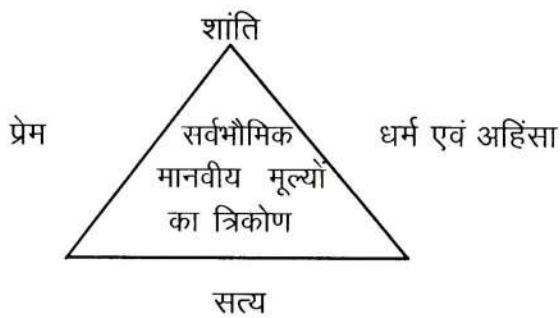
सार्वभौमिक मानवीय मूल्य, जिनकी संख्या पाँच है। ये मानव जीवन के पाँच स्तम्भ हैं इसलिए इन्हें पंचशील तथा पंचरत्न भी कहा जाता है। ये निम्नलिखित हैं -

1. सत्य - Truth
2. धर्म - Righteous Conduct
3. शांति - Peace
4. प्रेम - Love
5. अहिंसा - Non-violence

उपरोक्त पाँचों मानवीय मूल्य मनुष्य जीवन के पाँच पक्षों से सम्बन्धित हैं -

1. शारीरिक पक्ष
2. बौद्धिक पक्ष
3. संवेगात्मक पक्ष
4. मनः पक्ष
5. आध्यात्मिक पक्ष

सार्वभौमिक मानवीय मूल्य एक दूसरे के बिना एकांगी एवं अपूर्ण हैं। अतः वे अन्तर्सम्बन्धित एवं अविच्छेदित हैं -



स्रोत – सिंह (2002)

उपरोक्त त्रिकोण में आधार पर सत्य को प्रदर्शित किया गया है, बाँयी भुजा पर प्रेम को, दाँयी भुजा पर धर्म एवं अहिंसा, वहीं शीर्ष पर शांति को रखा गया है क्योंकि शांति (Supreme Peace) निर्वाण या आत्म-साक्षात्कार के समतुल्य है। इस प्रकार 'शांति शिक्षा' सिर्फ सैद्धान्तिक अवधारणा न होकर मूल्योन्मुख सार्वभौमिक शिक्षा है।

4. आलोचनात्मक विश्लेषण –

भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में आंतरिक शांति की पक्षधर है—

“शांतिनि पूर्णरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।

शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तुनः।।”

(अथर्ववेद)

यजुर्वेद में भी अन्तर्मन की शांति के लिए प्रार्थना की गई है –

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शांति पृथिवि शांतिरापः

शांतिरोषधयः शांति :

वनस्पतयः शांतिर्विश्वे देवाः शांतिर्ब्रह्म शांतिः

सर्वशांति शांतिरेव शांति :

सा मा शांतिरेधिं ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

श्री सत्य साई बाबा का मानना है कि शांति से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है। इसीलिए आपने अपने आश्रम का नाम प्रशांति निलयम (अबोड आफ पीस) किया, जो विश्व बन्धुत्व, विश्वशांति एवं विश्व प्रेम का संदेश देता है (सिंह, 2001)।

शांतितुल्यं तपोनास्ति न संतोषात्परं सुखम्।

न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मा दया परः।।

(बाबा – 2000)

विश्व में शांति की कल्पना करके ही श्री सत्य साई बाबा निम्नलिखित प्रार्थना पर बल देते हैं

पीस, पीस, पीस

पीस, आनदि अर्थ

फार आल दि यूनिवर्स।

(सिंह, 2001)

शिक्षा 'शांति की संस्कृति' के सृजन का प्रमुख साधन है। परमाणु हथियारों की प्रतियोगिता के इस युग में “शांति शिक्षा” ही आशा की वह किरण है जिसके माध्यम से पृथ्वी के समस्त जीवधारियों की रक्षा की जा सकती है। यूनेस्को द्वारा नियुक्त डेलर आयोग ने भी माना है कि शिक्षा व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आयोग ने लिखा है कि शिक्षा “एक महत्वपूर्ण साधन है जिसमें मानव के विकास का सुगठित स्वरूप पनप सके तथा जिससे गरीबी, अलगाव, अज्ञान, शोषण एवं युद्ध की स्थितियों का निराकरण हो सके।”

सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों के विकास एवं संरक्षण हेतु आवश्यक है कि व्यक्तिवाद से सार्वभौमिकता की ओर बढ़ा जाय। भारतीय संस्कृति “वसुधैव कुटुम्बकम्” के माध्यम से प्राचीन काल से इसकी पक्षधर रही है। जैसे-जैसे व्यक्तिवाद कम होगा वैसे-वैसे सार्वभौमिकता की भावना बढ़ेगी और मानवीय मूल्यों का पोषण होगा। इसे गणीतीय सूत्र के रूप में देखा जा सकता है –

$$C = \frac{U}{I}$$

जहाँ C = Indian Culture (भारतीय संस्कृति)

U = Universalism (सार्वभौमिकता)

I = Individualism (व्यक्तिवाद)

शेष भाग पृष्ठ 56 पर

शिक्षा एवं सिविल सोसाइटी

डॉ० अरविन्द कुमार श्रीवास्तव

भारतीय समाज के संदर्भ में एक बहुत ही प्रचलित कथन है वह यह कि भारतीय समाज एक 'बन्द वर्ग समाज है'। बन्द वर्ग समाज का मतलब ही है कि सामाजिक गतिशीलता की गुंजाइश नहीं है। वस्तुतः यह एक कटुसत्य है कि जन्मगत आधार की पृष्ठभूमि में निर्मित समाज में गतिशीलता लगभग शून्य होती है और इसी जन्म के आधार पर समाज के कुछ वर्गों को तमाम सुविधाओं के उपभोग का अधिकारी माना जाता रहा है। जबकि बहुसंख्यक आबादी को न्यूनतम मानवाधिकार से भी वंचित रखा गया है तो इससे एक सिविल सोसाइटी का निर्माण कैसे सम्भव है। हम इस लेख में सिविल सोसाइटी के निर्माण में शिक्षा की भूमिका पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करेंगे।

किसी समाज के संरचना के दो स्तर होते हैं। पहला स्तर, सामाजिक-आर्थिक संरचना है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इस संरचना को देखा, परखा और समझा जा सकता है क्योंकि यह ऊपरी संरचना है। दूसरा स्तर गहरी संरचना (Deep Structure) का है जो मानसिक संरचना होती है—विचार शैली या वैचारिकी होती है। गहरी संरचना सनातन निष्ठा वाली (Primordial loyalties) होती है—मेरा धर्म, मेरी जाति, मेरी भाषा, मेरा क्षेत्र, मेरी संस्कृति आदि। सनातन निष्ठाएं संवेग और संज्ञान को रचती हैं। हर समाज में दोनों ही संरचनाएं किसी-न-किसी अंश में मौजूद होती हैं। इनका प्रभावकारी पक्ष स्वीकारमूलक (Positive) और निषेधमूलक (Negative) दोनों होता है। भारतीय समाज में इनका स्वीकारमूलक पक्ष प्रबल नहीं है। ग्रामची के अनुसार सिविल सोसाइटी में वे सारी संस्थाएं शामिल हैं जो राज्य का जरूरी

अंग नहीं है—परिवार, जाति, धर्म समुदाय, जन-रीतियां, शिक्षा संस्थाएं आदि। ये संस्थाएं बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं हैं। राज्य का सांस्कृतिक यंत्र (Cultural Apparatus) इन्हें प्रभावित करता है। प्रतिदिन का जीवन इन्हीं संस्थाओं से संचालित होता है। नागरिक जीवन की कार्यकारिता इनसे प्रभावित होती है। समाज को परिवर्तनशील होने के लिए इन संस्थाओं की सनातन निष्ठाओं को भी गतिशील बनाना होगा। जिसमें बिना किसी जाति, धर्म, संप्रदाय एवं लिंग का भेद किये समस्त मानव जाति को शिक्षण संस्थाओं तक पहुंच की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। क्योंकि शिक्षा ही वह कुंजी है जिससे समाज में व्याप्त असमानता, शोषण, धार्मिक, अन्धविश्वास, आदि को बहुत हद तक मिटाया जा सकता है। शिक्षा से तर्क करने की क्षमता पैदा होती है। यह क्षमता एक सिविल सोसाइटी के निर्माण में बहुत आवश्यक है।

प्राचीन काल से लेकर अंग्रेजी काल तक शिक्षा ग्रहण करने पर कुछ जातियों की प्रभुता (Hegemony) थी। इस प्रभुता पर सर्वप्रथम चोट करने का काम महात्मा फूले ने 1848 में किया। जब उन्होंने सर्वप्रथम समाज के पायदान पर स्थित दलित एवं शूद्र जाति के लिए शिक्षा की पहल की, यहाँ यह गौर करने की जरूरत है कि इस दलित की श्रेणी में समाज की आधी आबादी यानि स्त्री भी आती है अर्थात् भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में स्त्री एवं शूद्र दोनों को दलित माना गया है। महात्मा फूले ऐसे सर्वप्रथम भारतीय सामाजिक चिन्तक थे जिन्होंने यह स्थापित किया कि 'शिक्षा ही शक्ति है' (Education is Power)। वह कहते थे कि जो शिक्षा से वंचित है वह सत्ता से भी वंचित है।

महात्मा फूले के विश्लेषण के इस तरीके को डिक्स्ट्रक्शन कहा जाता है। उत्तर आधुनिक समाज की व्याख्या में डिक्स्ट्रक्शन का बहुत महत्त्व है। महात्मा फूले के बाद भीमराव अम्बेडकर, महात्मा गांधी भी सामाजिक-शैक्षिक पटल पर आये और उनकी भी मान्यता थी कि शिक्षा सबके लिए सुलभ होनी चाहिए। दलितों के उत्थान में अम्बेडकर का यह नारा ही था कि 'शिक्षित बनो, संगठित हो एवं संघर्ष करो'। जबकि महात्मा गांधी सिविल सोसाइटी के निर्माण में स्त्री शिक्षा को पुरुषों की शिक्षा देने से अधिक महत्त्व देते थे। स्त्री शिक्षा के परिणाम को महसूस करते हुए उन्होंने कहा कि समाज में एक स्त्री को शिक्षा देना कहीं दस पुरुषों को शिक्षा देने के बराबर है।

यद्यपि 1848 से लेकर आज तक शिक्षा को जन-जन तक पहुंचाने के अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयास किये गये लेकिन उसका परिणाम बहुत उत्साह जनक नहीं रहा जिसका प्रमुख कारण गरीबी एवं बुनियादी संरचना का अभाव रहा है। गरीबी विद्यालय की ओर जाने वाले मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। गरीब परिवार की जिन्दगी इसी उधेड़ बुन में ही गुजर जाती है कि किस तरह परिवार के सभी सदस्यों का भरण-पोषण किया जाये। जिस देश में व्यक्ति की यह सोच कि 'अधिक बच्चे अधिक हाथ', उस देश में निर्धनता की व्यापकता को सहज समझा जा सकता है। निर्धनता के कारण तमाम परिवार के बच्चे विद्यालय की ओर मुख ही नहीं कर पाते हैं और कुछ ने हिम्मत करके उधर मुख किया भी तो शिक्षा की बुनियादी संरचना इसमें आड़े आती है। विद्यालय का घर से मीलों दूर होना, वहां तक जाने का सुगम मार्ग एवं साधन न होना तमाम लोगों को शिक्षा से दूर रखने का कार्य किया, विशेषतः लड़कियों के लिए तो शिक्षा ग्रहण करना ख्याब ही बन कर रह गया था।

अब सरकार द्वारा 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को शिक्षा के बुनियादी अधिकार से संबंधित कानून को पहली अप्रैल 2010 से लागू करना वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित होगा। लेकिन इसके लिए अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है और यह सरकार एवं जनता दोनों के स्तरों पर होना है। सरकार को जहां बुनियादी संरचना अर्थात् शिक्षण संस्थाओं का जाल एवं पर्याप्त मात्रा में शिक्षक की व्यवस्था करना एक कठिन चुनौति है, वहीं आम जनता को शिक्षा के महत्त्व को समझने, उसके प्रति जागरूक होने एवं परस्पर जागरूक करने की आवश्यकता है। लेकिन यह सब करने में इस बात पर भी ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है कि कहीं गुणवत्ता प्रभावित न हो। क्योंकि गुणवत्तापरक शिक्षा ही सिविल सोसाइटी के निर्माण में कार्यकारी साबित हो सकता है। इससे ही सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की सनातन निष्ठाओं में परिवर्तन एवं गतिशीलता आ सकती है और तभी सिविल सोसाइटी के बनने की राह आसान होगी। ●

पृष्ठ 54 का शेष भाग

उपरोक्त सूत्र से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे लोगों में व्यक्तिवाद की भावना की मात्रा कम होगी वैसे-वैसे सार्वभौमिकता की मात्रा बढ़ेगी तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को बल मिलेगा। किन्तु इसके साथ ही हमें ध्यान रखना होगा कि 'शांति शिक्षा' को वास्तविक जीवन के व्यवहारिक धरातल पर उतारा जाय। अन्यथा अन्य कई प्रकार की शिक्षाओं की तरह ही 'शांति शिक्षा' भी सिर्फ एक सैद्धान्तिक एवं पुस्तकीय संप्रत्यय बनकर रह जायेगी और सम्पूर्ण विश्व में शांति सृजन के अपने अतिमहत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति में असफल रह जायेगी। ●

प्रकृति एवं जीवन मूल्य

प्रीति चतुर्वेदी*

दयाशंकर चौबे**

ईश्वर कहो, परमेश्वर कहो, खुदा कहो या प्रकृति कहो, संसार की नियन्ता ये शक्तियां ही हैं। ईश्वर को हम देख नहीं सकते परन्तु प्रकृति तो हमेशा हम सभी लोगों के पास ही है। विश्व में जो परिवर्तन हो रहा है या मानव जीवन में जो उत्कर्ष और पराभव दृष्टिगोचर हो रहा है उसे हम प्रकृति के रूप में देख सकते हैं तथा महसूस कर सकते हैं।

महामना मालवीय जी ने ठीक ही कहा था “मैं कर्मठता का उपदेश गौरेयों से लेता हूँ, जो सवेरे हर्षोद्रेक से चहचाहती हुई अपने काम में निरत हो जाती है।” यहाँ पर मालवीय जी गौरेयों में प्रकृति को देखते हैं तथा उसका मानव मन, बुद्धि और आचरण पर प्रभाव की बात कह रहे हैं। इसी की विशद चर्चा नीचे कर रहे हैं।

सागर, पर्वत, पठार, मरुस्थल, झरने, नदियों, सरोवरों, हरे भरे मैदान पेड़ों, फूलों का देखकर क्या हम आन्दोलित नहीं होते? क्या हम यह सोचने को मजबूर नहीं होते कि इन्हें किसने बनाया? फूल खिलते हैं, सुगन्ध हवा में बिखेरते हैं, सुन्दरता से सभी को सम्मोहित करते हैं, स्थान विशेष से लगाव को बढ़ाते हैं तथा हमें सौन्दर्य की तरफ आकर्षित करते हैं।

हम इस प्राकृतिक सौन्दर्य से सुन्दरता, कोमलता का जीवन मूल्य प्राप्त करते हैं। इससे बड़ा कौन साधन हो सकता है, जो हमें सुन्दरता और कोमलता का पाठ पढ़ाये।

सूरज और चन्द्रमा अपनी अनवरत यात्रा से रात और दिन का निर्माण करते हैं हवा कभी गर्म तथा कभी ठण्ड तासीर लिये चलती है।

मौसम कभी ठण्डा, गर्म शुष्क और कभी गीला हो जाता है। इसी तरह प्रकृति के अनेकानेक तत्त्व अपने प्रायः निश्चित क्रम और नियम में ही चलते हैं। ऐसा लगता है जैसे ये अपने धर्म और प्रकृति के नियम का पालन कर रहे हों। मनुष्य भी अपने नियम और धर्म रूपी जीवन मूल्य की प्रेरणा इन्हीं प्राकृतिक स्वरूपों से प्राप्त करता है और स्वधर्म और नियम से विचलित नहीं होने को ही श्रेयस्कर समझता है। प्रकृति का सानिध्य मानव को नियम, धर्म पर चलने की याद दिलाता रहता है।

प्रकृति में हम प्रायः देखते हैं कि विभिन्न प्रकार के पशु अपने समूहों में रहते हुये अपने दैनिक क्रिया-कलाप में लिप्त रहते हैं। उन्हें इस साहचर्य के लिए कोई बन्धन नहीं होता। वे अन्य वर्ग के जीवों के साथ भी साहचर्य निभाते मिलते हैं। सहसा ऐसा प्रतीत होता है कि यह साहचर्य या सामाजिकता ही उनका जीवन है। मानव सामाजिक मूल्य की शिक्षा इन्हीं पशुपक्षियों से प्राप्त कर सामाजिक प्राणी कहलाने का श्रेय प्राप्त करता है।

पशुपक्षियों के व्यवहार में उन्मुक्त आकर्षण और प्रेम प्रायः देखने को मिलता है। चकोर पक्षी चन्द्र को अविचल निहारती है मिलन की चाह में। प्रेम के विभिन्न रूप जैसा प्रकृति में दिखते हैं वह अन्यत्र संभव नहीं है। प्रेम का जीवन मूल्य प्रकृति का अनमोल तोहफा है। प्रकृति जीवन मूल्यों का खजाना है। प्रकृति के करीब रह कर उसका अवलोकन करके मानव उन आदर्शों और जीवन मूल्यों को सहज ही प्राप्त कर सकता है।

* शोध छात्रा, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

** सेवा निवृत्त सहायक मुख्य अभियन्ता

जिसकी उसे तलाश है।

सिंह साहस का प्रतीक है। सिंह के साहस कारण ही पूरा जंगल उसका लोहा मानता है। जंगल का हर जीव जंतु उसकी एक आवाज से रुक जाता है। सिंह की आक्रमता उसके साहस का मूर्तरूप है। क्या साहस के जीवन मूल्य का इससे अच्छा उदाहरण मिल सकता है।

जंगल का राजा सिंह होता है पर कदाचित् हाथी अपने आकार और स्थायित्व के कारण ज्यादा योग्य प्रतीत होता है। साँप-नेवला, कुत्ता-बिल्ली, चूहा-बिल्ली इत्यादि की प्रतिद्वन्दिता प्रकृति में अवश्य ही देखने को मिलती है। यह प्रतिद्वन्दिता एक वर्ग तथा विभिन्न वर्ग के पशु-पक्षियों में देखने को मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे राजनैतिक प्रतिद्वन्दिता का युद्ध यहाँ भी चल रहा है। मनुष्य भी राजनैतिक मूल्य की शिक्षा कदाचित् यहीं से पाता है।

चिड़िया तिनका दाना चुन कर इकट्ठा करती है और बाद में बच्चों को खिलाती है और स्वयं उपभोग करती है। अन्य जीव जन्तु भी इस तरह के संचय और उपभोग में लगे हुए हैं और वे यह कार्य बड़ी तन्मयता से करते हैं। मनुष्य भी आर्थिक मूल्य की शिक्षा प्रकृति में जीव जन्तुओं के क्रिया कलाप से पा सकता है।

बन्दर की चपलता, लोमड़ी की चालाकी, बिल्ली की छुपकर घात लगाने की कला, चील की दूरदृष्टि और शीघ्र कार्य निष्पादन, किस तरफ इशारा करती है ? मानव यदि प्रकृति के इस रूप को निहारें तो उसे दक्षता का जीवन मूल्य सहज ही प्राप्त हो सकता है।

पेड़ फल किसके लिए देता है ? नदी किसके लिए बहती है ? धरती अन्न किसके लिए देती है ?, प्रकृति के ये अद्भुत अवयव परोपकार एवं दया की तरफ इशारा करते हैं। मनुष्य के लिए दया

एवं परोपकार का जीवन मूल्य प्रकृति में दिन प्रति दिन दिखाई देता है। इन्हीं जीवन मूल्यों को अपना कर मनुष्य, मनुष्यता हासिल कर पाता है।

हाथी का स्वाभिमान, सिंह का गर्व, कुत्ते की स्वामीभक्ति, चिड़िया की निश्चलता किस तरफ इंगित करती है ? स्वाभिमान, गर्व, स्वामीभक्ति इत्यादि जीवन मूल्य प्रकृति में सर्वसुलभ हैं। आवश्यकता तो बस इतनी है कि हम प्रकृति के साथ रहे, उसे देखे और उसी के अनुरूप जीये।

प्रकृति में ही वर्ग, समुदाय, क्षेत्र, राष्ट्र का रूप भी देखने को मिलता है। विश्व की परिकल्पना भी धरती, समुद्र, नदियों, पठारों, पर्वतों, मरुस्थलों, झरनों, सरोवरों से ही संभव हो पाती है। हमारे प्राकृतिक संसाधन, प्राकृतिक विशिष्टताओं के प्रति लगाव राष्ट्र प्रेम के रूप हमारा जीवन मूल्य बन जाता है।

प्रकृति तो समस्त जगत एवं मानवता की पोषक है। हमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति प्रदान कर जीवन में प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है।

प्रकृति का हर अवयव जीव जन्तु, पशु-पक्षी जलचर, और नभचर हमारी प्रगति में सहायक हैं। परन्तु अज्ञानतावश हमें प्रकृति के दोहन में ही अपना भला दिखने लगा है। और यही पर मूल्यों का ह्रास शुरू हो जाता है। इसके दुष्प्रभाव अब तो परिलक्षित होने लगे हैं। चेतावनी का समय आ गया है। प्रकृति के शरण में जाओ नहीं तो विनाश निश्चित है।

यदि हम अभी प्रकृति की तरफ मुड़ जाये तो हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। जीवन, जीवन के आदर्श, जीवन का उद्देश्य, जीवन मूल्य और जो कुछ हम सोच सकते हैं— वह सब प्रकृति से ही प्राप्त किया जा सकता है। ●

युवा प्रशिक्षण शिविर : एक विशिष्ट अनुभववृत्तान्त

पंकज कुमार सिंह

पावन पवित्र गंगा एवं वरुणा के संगम और मनोरम प्राकृतिक वातावरण में राष्ट्रीय युवा प्रशिक्षण शिविर का आयोजन 1-5 जून, 2010 को सर्व सेवा संघ-परिसर (साधना केन्द्र), राजघाट, वाराणसी में सम्पन्न हुआ। राजघाट, वाराणसी का यह परिसर ऐतिहासिक महत्त्व रहता है। यहां उत्खनन से 8वीं शती ईसा पूर्व से 18वीं शती ई0 तक का प्रमाण मिले हैं। यह बौद्धकालीन राजाओं की राजधानी रही है। लालखां का रौंजा आज भी स्थापत्य कला का सुंदर मिसाल लिए खड़ा है।

1950 के दशक में जब भूदान आंदोलन जोरों से चल रहा था तब 1954 में विनोबा भावेजी ने इस केन्द्र की स्थापना की। यहां सर्वोदय विचार की पुस्तकों के साथ-साथ भूदान यज्ञ, गांव की आवाज, भूदान, तहरीक (उर्दू), तरुण क्रांति, बुनियादी यकीन और सर्वोदय जगत जैसी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती रही हैं। 'सर्वोदय जगत' आज भी प्रकाशित हो रही हैं, जो अहिंसक क्रांति और सर्वोदय विचार को प्रसारित करने वाली एक महत्त्वपूर्ण पाक्षिक पत्रिका है।

1960 के दशक में विनोबाजी बिहार और उत्तर प्रदेश की यात्राओं पर जाते हुए अनेकों बार साधना केन्द्र परिसर में पधारे। इसी परिसर में गांधी विद्या संस्थान है, जिसकी स्थापना लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने की थी, जो 1974 में 'सम्पूर्ण क्रांति' आंदोलन का प्रमुख केन्द्र रहा। शंकरराव देव, दत्तोबा दस्ताने, दादा धर्माधिकारी, धीरेन्द्र मजूमदार, बिमला ठकार, सुंदरलाल बहुगुणा, आचार्य राममूर्ति आदि विभूतियाँ यहाँ रही हैं।

इस शिविर में आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, झारखण्ड, उत्तर प्रदेश, गुजरात

आदि प्रांतों के 60 से अधिक युवक एवं युवतियों ने हिस्सा लिया। उनमें से मैं एक था। शिविर के उद्घाटन भाषण में सर्व सेवा संघ के महामंत्री महादेव विद्रोही ने कहा कि सिर्फ सत्ता का बदलना क्रांति नहीं है। दुनिया के अनेक देशों में क्रांति के नाम पर सिर्फ सत्ता का परिवर्तन हुआ, पर पुराने मूल्य ज्यों-के-त्यों रहे, परिणामस्वरूप परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जब सामाजिक व्यवस्था, मूल्यों एवं संबंधों में परिवर्तन होता है तब क्रांति होती है।

उद्घाटन सत्र के मुख्य वक्ता, सर्व सेवा संघ की अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क एवं प्रशिक्षण समिति के संयोजक, डॉ0 जीवीवीएसडीएस प्रसाद ने युवाओं से कहा कि आज पर्यावरण, जल प्रदूषण, भ्रष्टाचार, शोषण, नशाखोरी, आर्थिक विषमता, आंतकवाद आदि के लिए जिम्मेवार कौन है? इसके लिए हम व्यवस्था को दोषी ठहराते हैं। वास्तव में अगर हम स्व मूल्यांकन करें तो कहीं न कहीं हम भी शरीक हैं। क्योंकि हम अगर अन्याय का विरोध नहीं करते हैं, तो इससे प्रतीत होता है कि कहीं-न-कहीं हमारा भी इसमें स्वार्थ है। इसके लिए हमें स्वयं के बारे में सोचना होगा और बदलाव लाना होगा, तभी समाधान संभव है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमारे गांवों की दुश्मन है और इसने ग्रामीण समाज व्यवस्था को नष्ट कर रखा है। गांव में क्या आ रहा है और क्या बाहर जा रहा है, यह आज की परिस्थिति में एक विचारणीय प्रश्न है।

शिविर के दूसरे दिन जन स्वास्थ्य और राष्ट्र-निर्माण विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए डॉ0 ए0के0 अरुण ने कहा कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दबाव में आकर हमारी सरकार मौत की

सौदागर बनती जा रही है। बहुराष्ट्रीय कंपनियां महज मुनाफे के लिए गैर-जरूरी दवाओं और टॉनिकों के धंधे में लगी हैं, जबकि जीवन रक्षक दवाओं का उत्पादन उन्होंने लगभग बन्द कर दिया है। उन्होंने आगे कहा कि 1971 के पेटेंट कानून की वजह से दवाओं के दामों में भारी कमी आयी थी लेकिन 1991 में डब्ल्यू0टी0ओ0 के दबाव में 1971 के पेटेंट कानून में परिवर्तन कर 1940 के दशक के समय की स्थिति में ला खड़ा कर दिया है। फलतः दवाओं की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि हो गयी है। हम अपने स्वास्थ्य के मौलिक अधिकार से वंचित होते जा रहे हैं। हमारी सरकार स्वास्थ्य पर वास्तविकता में मात्र 1.5 प्रतिशत ही अपने बजट में व्यय करती है। आज देश में नमक बनाने वाली कंपनियों का अरबों में मुनाफा हो रहा है। हेल्थ सेक्टर में लाभ को देखते हुए जूता बनाने वाली कंपनियां भी इसमें प्रवेश कर सुपर स्पेशलिस्ट अस्पताल खोल रही हैं, जहाँ सिर्फ अमीरों का इलाज होगा।

पूर्व सांसद डॉ० रामजी सिंह ने शिक्षा का बाजारीकरण एवं बेरोजगारी विषय पर बोलते हुए कहा कि जब तक देश की आर्थिक नीति नहीं बदलेगी, तब तक शिक्षा नीति में सुधार नहीं हो सकता। उन्होंने आगे कहा कि विकृत संस्कृति की सोच रखने वाले प्रशासन ने अपनी भोगवादी दृष्टिकोण से शिक्षा को देखा। हजरत मोहम्मद साहब, रामकृष्ण परमहंस कभी पाठशाला या कॉलेज नहीं गये किन्तु अशिक्षित नहीं थे। आज शिक्षा डिग्री परीक्षा और नौकरी तक सीमित रह गयी, तो नाइंसाफी है। शिक्षा का उद्देश्य स्वयं में विश्वास, स्वावलंबन, प्रकृति के साथ संतुलन, मानव-निर्माण, सार्थक और निरोगी काया बनाना होना चाहिए, लेकिन वर्तमान शिक्षा से मानव सभ्यता संकट में पड़ गयी है। जब तक शिक्षा मातृभाषा में नहीं

होगी तब तक राष्ट्र का विकास संभव नहीं है। शिक्षा को जीवन और जीविका से जोड़ना होगा। सही मायने में शिक्षक वही है, जो स्वावलंबी है। जो स्वावलंबी होगा वही स्वावलंबी लोगों को तैयार कर सकता है।

दूसरे सत्र में गांधी अध्ययनपीठ के डॉ० रामप्रकाश द्विवेदी ने कहा कि हमारा देश आध्यात्म की दृष्टि से विश्वभर में सबसे सम्पन्न देश है। यही हमारी संपदा है। आज वैश्वीकरण के युग में दुनिया के सारे देश इन्द्रियों के साधन जुटाने में लगे हैं। हमारे यहां आध्यात्म के माध्यम से इसका समाधान है। वैश्वीकरण का सिद्धान्त हमारे सभ्यता के दर्शन में कहीं स्थान नहीं रखता। पेप्सीकोला के कारण नदी, तालाब, कुएं सूख रहे हैं। एक दशक में अपराधों में वृद्धि हुई है, तलाक बढ़े, खुला सेक्स एवं बिन ब्याही मां बढ़ी हैं। यह सब वैश्वीकरण की ही देन है। यह समाज में शोषण को बढ़ावा दे रहा है।

4 जून, 2010 को सांस्कृतिक सत्र में डॉ० एस०एन० सुब्बारावजी ने 'राष्ट्रीय एकता और सद्भावना' विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला। सत्र का समापन उनके प्रिय गीत 'नौजवान आओ रे, नौजवान गाओ रे' से हुआ।

राष्ट्रीय युवा प्रशिक्षण शिविर के अन्तिम दिन सर्व सेवा संघ पूर्व अध्यक्ष श्री अमरनाथ भाई ने कहा कि आज हम अपनी मिट्टी (मातृभूमि) की पहचान खोते जा रहे हैं। हमारे यहां त्याग को प्रधानता थी, भोगवाद की नहीं। उन्होंने कहा आज आदमी, आदमी से दूर होता जा रहा है। भले ही वह चांद पर पहुंच गया हो, किन्तु अपने पड़ोसी को भूल चुका है। देश में विकास के नाम पर पहाड़, जंगल, समाप्त किये गये, जल का अति दोहन किया गया। शायद वह दिन दूर नहीं जब अन्य प्रजातियों के साथ-साथ मानव जाति

भी लुप्त हो जायेगी।

वक्ताओं द्वारा विषय प्रवेश के बाद प्रश्न पूछने और अपने विचार रखने का समय होता था, लेकिन इस दौरान कुछ युवा उत्तेजित भी हो जाते थे। समस्या समाधान को लेकर कुछ युवक हिंसक साधनों के प्रयोग का पक्ष लेते थे। ऐसे में वक्ता का अधिकतम समय हिंसक अवधारणा को परिवर्तित कर अहिंसक अवधारणा को प्रतिस्थापित करने में लग जाता था। इसके लिए वक्ताओं ने हिंसक रूसी क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति, हिटलर, मुसोलिनी के वनिस्पत अहिंसक भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन एवं संपूर्ण क्रांति को सही ठहराया और अपने विचारों को आगे बढ़ाया।

इसके अतिरिक्त शिविर में योगासन का नियम था, जो तन-मन के लिए आवश्यक है। इसमें 'युगल योगासन' हम सबके लिए नूतन था। योगासन के बाद सर्वधर्म प्रार्थना होती थी और फिर श्रमदान के लिए हम अपनी टीम के साथ निकलते थे। इसमें परिसर सफाई, पानी भरने एवं शौचालय सफाई के अतिरिक्त कमरा और रसोई सफाई का कार्य था। मुझे, श्री रामधीरज भाई, अशोक भारत, महादेव विद्रोही, प्रशांत गुजर एवं टिकेन्द्र भाई को शौचालय एवं परिसर सफाई में देखकर एक सर्वोदयी गीत याद आता था :

‘अब तक जितने बड़े हुए हैं,

उनसे कुछ बेहतर बन जायें,

आओ अब हम मेहतर बन जायें।’

शौचालय सफाई एवं बदबूदार नाली सफाई के लिए युवा तैयार नहीं होते, किन्तु बड़ों को देखकर बिन कहे लग जाते थे। बहुतों ने जीवन में पहली बार शौचालय सफाई का काम किया। गौरतलब है कि मैंने स्नातकोत्तर 'गांधी-विचार' से किया है। गांधी साहित्य पढ़ते समय मैं पाया कि गांधी आश्रम में मेहतर का काम बड़े लोग

करते थे। लेकिन यह काम आज भी होता होगा, इसका मुझे अंदाज नहीं था। किन्तु प्रत्यक्ष देखकर अनुभव हुआ कि आज भी अनेक गांधीजन हैं, जो सिद्धांत के अनुरूप कार्य कर रहे हैं। इससे सबमें श्रम के प्रति श्रद्धा और निष्ठा बढ़ी। हमने तय किया कि अब अपने घर, शौचालय व नाली की सफाई स्वयं करेंगे।

शिविर में पानी की बहुत दिक्कत थी क्योंकि परिसर का ट्यूबवेल खराब हो गया था। जिससे पानी दूर से लाना पड़ता था लेकिन यह परेशानी भी सामूहिक प्रयास व श्रम से दूर हो गयी। परिसर से लगभग 400 मीटर दूर सरकारी हैंडपंप था। हम सब वहां तक श्रृंखलाबद्ध होकर खड़े हो जाते और खेल-खेल में पानी भर देते थे। इसमें उल्लेखनीय रूप से सर्व सेवा संघ के महामंत्री श्री महादेव विद्रोही ने शुरू से अंत तक सभी काम छोड़ हम युवाओं की श्रृंखला में पानी ढोने में अपना योगदान दिया। इसमें दो बाह्य समस्या थी। पहली यह कि हमलोगों को मुख्य सड़क पार कर पानी लाना पड़ता था, दूसरी सरकारी हैंडपंप पर हमलोगों के अतिरिक्त और लोग पानी भरने आते थे — उनसे निपटना। कभी-कभी ये लोग अड़ियल हो जाते थे, किन्तु सत्याग्रह के सामने पत्थर भी पिघल जाता है। इस शिविर में तो कई एक ने तो पानी के प्रयोग में मितव्ययिता का पाठ सीखा। सुषमा सिंह, जो बीएचयू से शोध कर रही हैं, वे अपना अनुभव सुनाते हुए कहीं कि मैंने आधी बोतल पानी में ब्रश किया, चेहरा साफ किया और थोड़ा पीने के बाद भी एक ढक्कन पानी बचा लिया। ऐसा भी कर सकती हूँ? मुझे खुद विश्वास नहीं था।

शिविर में संध्याकाल के खेल की भी अपनी खासियत थी। इसमें युवक-युवतियों के अलावा बच्चे-बूढ़े भी भाग लेते थे। कभी-कभी

किसी खेल में दो युगल को एक साथ दौड़ना पड़ता था। इसमें अक्सर बेमेल हो जाता था, जब युवा के साथ बुजुर्ग को या युवतियों को दौड़ना पड़ता था। युवा तेज दौड़ते, बुजुर्ग धीरे-धीरे, युवतियां चिल्लाती छोड़ो-छोड़ो किन्तु कोई किसी को भला कैसे छोड़े, हार-जीत की बात थी कि कहीं दूसरा युगल बाजी न मार ले। खेल ने हम सबको जोड़ा।

रात के सांस्कृतिक कार्यक्रम में महाराष्ट्र से आये बजरंग भाई ने न केवल रंगमंच की बातें बतायीं बल्कि उसका अभ्यास भी कराया। बहुतांश युवाओं ने तो नाटक भाषण, संगीत आदि में इससे पहले भाग भी नहीं लिया था। उनको भी उत्साहित कर मंच पर बुलाया गया। ये युवा रंगमंच में अनाड़ी हैं, इसका पोल तब खुला जब बजरंग भाई ने सभी पांच गुप्तों से अलग-अलग नाटक मंचन करने को कहा, जिसमें बाजार, शादी और मृत्यु का दृश्य हो। तब क्या था सभी युवकों ने गुप्त में लड़की होने के बावजूद शरम वस युवकों से ही शादी कर ली, तो किसी ने बहुपत्नी विवाह। गोविन्द भाई (उड़ीसा) मइयत में शहनाई बजा रहे थे। ये सब देख दर्शक खूब हंसे। इसके अलावा मंच संचालन, समाचार प्रसारण आदि का मौका युवाओं को दिया गया, जिसे हम सबने बखूबी निभाया। इस बीच सारनाथ का भ्रमण भी आनंदमय रहा।

कार्यक्रम के बाद भोजन की बात न करें तो दृश्य अधूरा ही रह जायेगा। सुबह एक समूह रसोई कार्य के लिए जाता था। वहां बड़े-बड़े हंडे, कड़ाहे को देखकर विश्वास ही नहीं होता था कि इसे हम साफ कर सकेंगे, तभी समूह में शामिल वयोवृद्ध गांधीजन सफाई में लग जाते, देखते-देखते हंडे, कड़ाहे आदि की सफाई, रसोईघर की धुलाई-पोछाई कर देते थे। इसके बाद सब्जी की धुलाई-कटाई कर महेन्द्र भाई को सौंप देते थे और महेन्द्र भाई

अपने दो-तीन सहयोगियों के साथ मिलकर शुद्ध शाकाहारी एवं स्वादिष्ट भोजन बनाते थे। उनका दही की लस्सी लाजवाब थी। अमित (आई0आई0टी0 कानपुर) ने तो इसे बार-बार लेकर पीया। खाना परोसने वाले समूह में प्रकाश भाई हमेशा आगे रहते थे।

बीएचयू पढ़ते हुए मैंने एन.एस.एस. के दो शिविर में भाग लिया था, उसकी अपनी महत्ता है। किन्तु मैंने एक बात का अनुभव किया कि वहाँ हम सब गुरुओं के आदेश से संचालित होते थे, यहाँ गांधीजनों के आचरण से। ऐसा शिविर राष्ट्रीय एकता को भी बढ़ावा देता है। विभिन्न राज्यों से आये हुए युवा एक-दूसरे के आचार-विचार सं-रू-ब-रू हुए। आपस में पता, फोन/मोबाइल नंबर, ई-मेल लिये-दिये, जिससे शिविर के बाद भी एक-दूसरे से जुड़े रहें। सब एक-दूसरे को अपने यहाँ बुला रहे हैं। यह सब साथ-साथ रहने, खाने-पीने, उठने-बैठने से पनपा।

कई एक ने आजीवन खादी पहनने, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने, धूम्रपान न करने और अपने गांव को नशाखोरी मुक्त करने की प्रतिज्ञा ली। पेप्सीकोला आदि रासायनिक पेय पदार्थों के नुकसान को जानकर आश्चर्य व्यक्त किया और आजीवन अपने को इन पेय पदार्थों से दूर रहने तथा औरों को इसके बारे में बताकर दूर रखने की बात की। कुछ छात्रों ने कम खर्च में बिना दहेज की शादी करने और दहेज वाले शादी में न जाने की प्रतिज्ञा की। कुछ एक ने शिक्षा ग्रहण के उपरांत गांव में सेवा देने की भी बात की। सभी ने परिवर्तन की बात की तथा शोषण रहित शासन निरपेक्ष, अहिंसामूलक ग्रामोद्योग प्रधान समाज निर्माण के लिए प्रयासरत रहने का वचन दिया।

इस प्रकार यह शिविर हम सबके लिए केवल उपयोगी ही नहीं रहा बल्कि भावी जीवन के लिए एक कुतुबनुमा (मार्गदर्शक) बन गया। ●

केन्द्र द्वारा आयोजित कार्यक्रमों का संक्षिप्त प्रतिवेदन (जुलाई 2009 से जून 2010 तक)

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र में अपने वार्षिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत वर्ष 2009-10 में निम्न कार्यक्रमों का आयोजन किया जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

❖ विश्वविद्यालय/महाविद्यालय के शिक्षकों के लिए चतुर्थ वार्षिक कार्यशाला

विषय : अकादमिक उत्कृष्टता के लिए नैतिक एवं मानवीय मूल्य

केन्द्र द्वारा विश्वविद्यालय/महाविद्यालय के शिक्षकों के लिए चतुर्थ वार्षिक कार्यशाला का आयोजन अगस्त 24-29, 2009 की अवधि में सिनेट हाल स्वतंत्रता भवन में किया गया। इस कार्यशाला में विभिन्न संकायों एवं महाविद्यालयों के कुल 25 प्रतिभागियों ने भाग लिए इन प्रतिभागियों में 3 आचार्य, 5 उपाचार्य, 17 प्रवक्ता स्तर के थे। कार्यशाला के 24 सत्रों में कुल 36 घंटे चर्चा हुई। कार्यशाला अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालयों एवं संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से आए प्रतिभागियों ने इसे विशेष रूप से सराहा और पुनः ऐसी कार्यशाला में सम्मिलित होने की इच्छा जताई।

❖ विश्वविद्यालय के कर्मचारियों एवं विद्यार्थियों के लिए तेरहवीं वार्षिक कार्यशाला

विषय : जीवन में सफलता के लिए नैतिक एवं मानवीय मूल्य

केन्द्र द्वारा प्रतिवर्ष के भाँति इस वर्ष भी विश्वविद्यालय के सभी संकायों के विद्यार्थियों एवं कर्मचारियों के लिए तेरहवीं कार्यशाला का आयोजन सितम्बर 22 से अक्टूबर 3, 2009 की अवधि में मालवीय भवन सभागार में किया गया। इस कार्यशाला में कुल 102 छात्र-छात्राओं ने अपना पंजीकरण कराया। प्रारंभ से लेकर अंत तक 50 छात्र-छात्राओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। कुल 28 सत्रों में 56 घंटे विभिन्न विषयों पर संवादात्मक चर्चाएँ हुई। इस सत्रों में जीवन व व्यवस्था से जुड़े हुए विभिन्न पक्षों पर विश्वविद्यालय 16 वरिष्ठ आचार्यों एवं 3 अतिथि वक्ताओं ने अपनी प्रस्तुतियाँ दी। प्रतिभागियों से प्राप्त फीड-बैक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कार्यशाला बहुत प्रभावशाली एवं सफल रही।

❖ उद्योग एवं प्रबन्ध जगत के अधिकारियों एवं प्रबन्धकों के लिए कार्यशाला

विषय : Ethics in Management

केन्द्र द्वारा विगत पाँच वर्षों से उद्योग एवं प्रबन्ध जगत के वरिष्ठ अधिकारियों के लिए एक कार्यशाला का आयोजन किया जाता रहा है। इस वर्ष के लिए कार्यशाला के आयोजन के पीछे मुख्य उद्देश्य मानवीय मूल्यों के दृष्टिकोण के आधार पर मानवीय व्यवस्था एवं मानवीय क्षमताओं के विकास की जीवन दृष्टि विकसित करना है, जिससे औद्योगिक जगत के लोगों का एकमात्र दृष्टिकोण अधिक से अधिक लाभ कमाना न हो, बल्कि लाभ के साथ मानवीय व्यवस्था के निर्माण की भूमिका भी हो।

इस बार दिसम्बर 10-11, 2009 की अवधि में पावरग्रिड कार्पोरेशन के कुल 20 वरिष्ठ अधिकारियों ने आई.टी. डायरेक्टर आफिस के कमेटी कक्ष में आयोजित कार्यशाला में भाग लिया। इस कार्यशाला में कुल सात सत्रों में तकरीबन 11 घंटे चर्चा हुई। जिसमें विश्वविद्यालय के 5 वरिष्ठ आचार्यों एवं एक अतिथि आचार्य ने अपनी प्रस्तुति दी। अपने फीड-बैक में प्रतिभागियों ने कार्यशाला को अत्यन्त उपयोगी बताया और इससे अपनी कार्यक्षमता में विकास की संभावना पर विश्वास जताया।

❖ स्वामी विवेकानन्द जयन्ती (युवा दिवस) पर संगोष्ठी का आयोजन

विषय : आधुनिक सामाजिक व्यवस्था: स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि

केन्द्र द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी 12 जनवरी 2010 को स्वामी विवेकानन्द के जन्मदिवस के अवसर

पर 'युवा दिवस' समारोह का आयोजन मालवीय भवन सभागार में किया गया। संगोष्ठी के मुख्य वक्ता आदरणीय श्री नीलकण्ठानन्द जी महाराज, (रामकृष्ण सेवाश्रम, वाराणसी) थे। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता माननीय कुलपति प्रो० धीरेन्द्र पाल सिंह ने की। केन्द्र की ओर से अतिथियों का स्वागत केन्द्र के समन्वयक प्रो० सिद्धनाथ उपाध्याय ने किया। विषय उपस्थापन का महत्वपूर्ण कार्य प्रो० अवधेश प्रधान ने किया। युवा उद्बोधन के लिए युवा प्रतिनिधि के रूप में पी० टी० आई० के ब्यूरो प्रमुख इन्दुकांत दीक्षित ने उद्बोधन किया। अध्यक्षीय उद्बोधन माननीय कुलपति जी द्वारा हुआ।

इस अवसर पर मुख्य वक्ता स्वामी नीलकण्ठानन्द महाराज ने कहा कि सरकार व समाज को बदलने से पहले खुद को बदलने पर ध्यान देना होगा। साथ ही उन्होंने विवेकानन्द के विचारों को आधुनिक संदर्भ में जोड़ते हुए युवाओं को व्यावसायीकरण, मानवता और अध्यात्म के दृष्टिकोण को आत्मसात् करने की बात कही। कार्यक्रम के अन्त में 'मूल्य-विमर्श' पत्रिका के 9वें अंक का उद्घाटन हुआ।

❖ प्राशासनिक सेवाओं में नैतिक एवं मानवीय मूल्य

विषय पर दो दिवसीय कार्यशाला का आयोजन

केन्द्र एवं राजनीति शास्त्र विभाग के संयुक्त तत्त्वाधान में 1-2 मई 2010 को प्रो० एच० एन० त्रिपाठी, संगोष्ठी कक्ष, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दो दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया। उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि प्रो० रमेश कुमार अरोड़ा (विजिटिंग प्रोफेसर आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, एच० सी० आर० इंस्टीट्यूट, जयपुर) व विशिष्ट अतिथि प्रो० वीरभद्र मिश्र (प्रख्यात पर्यावरणविद् एवं भूतपूर्व प्रोफेसर सिविल इंजीनियरिंग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रो० ब्रह्मदेव सिंह (रेक्टर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने की। इस कार्यक्रम देश के विभिन्न क्षेत्रों से आए शिक्षाविद और प्राशासनिक अधिकारियों ने भाग लिया। जिनमें मुख्य थे— प्रो० ए०के० मुखोपाध्याय (कोलकत्ता), श्री राकेश कुमार मेहता (मुख्य सचिव, दिल्ली सरकार), श्री राकेश मित्तल (अवकाश प्राप्त प्रमुख सचिव, उत्तर प्रदेश सरकार), श्री गिरीश पाण्डे (आयकर आयुक्त, भारत सरकार), श्री शैलजाकान्त मिश्र (ए०डी०जी० पुलिस, उत्तर प्रदेश), श्री एस०एन० सिंह (अवकाश प्राप्त वरिष्ठ प्रबन्धक, टाटा मोटर्स), श्री पद्म जंग (उप मुख्य लेखा परीक्षा अधिकारी, उत्तर प्रदेश सरकार), श्री श्यामधर तिवारी (वाणिज्य कर अधिकारी, उत्तर प्रदेश सरकार), श्री सोमेश तिवारी (संयुक्त आयुक्त, कस्टम एण्ड एक्साइज, भारत सरकार), श्री इन्दुकान्त दीक्षित (ब्यूरो प्रमुख, पी०टी०आई०) आदि।

इनके अलावा विश्वविद्यालय परिवार में से प्रो० सिद्धनाथ उपाध्याय, प्रो० चन्द्रकला पडिया, प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी, प्रो० रजनी रंजन झा, प्रो० डी०डी० नन्दा, प्रो० जी०पी० वर्मा, प्रो० एच०सी० चौधरी एवं कई अन्य अध्यापकों एवं शोध छात्रों एवं छात्राओं ने कार्यक्रम में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाई।

❖ उद्योग एवं प्रबन्ध जगत के अधिकारियों एवं प्रबन्धों के लिए कार्यशाला (जून 8-10, 2010)

विषय : Ethics & Human Values in Management of Executive of Powergrid

विगत वर्ष के सफल आयोजन के बाद पावरग्रिड कारपोरेशन आफ इंडिया के प्रबन्धन के पुनः अनुरोध पर जून 8-10, 2010 को पावरग्रिड कारपोरेशन के 21 अधिकारियों के लिए उपरोक्त विषय पर एक कार्यशाला का आयोजन किया गया। विश्वविद्यालय परिवार के प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी, प्रो० आर० के० पाण्डेय, प्रो० पी०एस० त्रिपाठी, डॉ० सुजीत दुबे ने इसमें अपनी उद्बोधन दिया। विश्वविद्यालय के बाहर से (मेरठ से) आयी डॉ० पूनम देवदत्त ने भी इसमें अपना उद्बोधन दिया। पावरग्रिड के अधिकारियों ने अपने फीडबैक में इस कार्यशाला को काफी सराहा एवं आगे भी ऐसी कार्यशालाओं में भाग लेने की इच्छा जताई।